[अर्जुन को मोह]

भागवत दर्शन

खण्ड ७०

गीतावार्त्ता (२)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थं सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक—
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:*:— संशोधित मूल्य २-०-रु

प्रथम संस्करण
१००० प्रति
आश्विन, दशहरा—२०२६
मू० १-६५ पै०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघ चालक
परम पूज्य श्री माधव सदाशिव गोलवलकर
(श्री गुरुजी)
की

भागवती कथा
पर

शुभ-सम्मति

लगभग एक वर्ष पूर्व की बात है। श्री बदरीनारायण क्षेत्र में श्रद्धेय श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज ने संकीर्तन भवन का निर्माण कराया था और उसका उद्घाटन मैंने ही करना चाहिए ऐसी उनकी इच्छा थी। श्री महाराज जी की इच्छा को आदेश मानकर मैंने श्री बदरीनाथ की यात्रा करने का निश्चय किया। सोचा कि वर्षों की उत्कट इच्छा पूर्ण करने के लिए परम कृपालु श्री बदरीनाथ ने ही यह संयोग बनवाया और अपने अन्तरंग भक्त श्री ब्रह्मचारी जी महाराज को मुझे भवन के उद्घाटन करने के हेतु निमन्त्रित करने की प्रेरणा दी होगी। इस कार्यक्रम का निमित्त बनाकर मुझपर श्री भगवान् ने दया कर मुझे अपने पास खींचकर ले जाने का मेरे लिए भाग्य का सुयोग्य प्राप्त कर दिया। अकारण करुणा करने का यह पवित्र खेल खेल कर मुझपर अपना वरदहस्त मानों रख दिया।

श्री महाराज जी की सन्निधि मे यात्रा करने के आनन्द का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। श्री बदरीनाथ पहुँच कर पाँच रात्रि वहाँ भगवद्चरणों में रहने का सद्भाग्य का प्राप्त हुआ। और श्री महाराज जी के श्री मुख से श्री मद् भागवत के कुछ अ श का विवरण सुनने का असीम सुख प्राप्त कर सका। भगवान् श्री कृष्ण जी के मथुरा चले जाने के कारण शोक विह्वल गोप गोपियो और विशेष कर नन्द बाबा और यशोदा मैया की भाव विभोर अवस्था का उनके द्वारा किया हुआ वर्णन पत्थर को पिघला सकने वाला कारुण्य रस का उत्कट

आविष्कार था। उनको सांत्वना देने के लिए श्री भगवान् के द्वारा प्रेषित उद्धव जी के आगमन पर गोप गोपी, यशोदा माई, आदि की स्थिति, उनकी भावनाएँ उनका उद्धव जी के साथ हुआ संभाषण श्री ब्रह्मचारी जी के श्री मुख से सुनते-सुनते मन एक सुखद वेदना का अनुभव कर द्रवित हो जाता था। इस अनुभव का वर्णन किस प्रकार करूँ।

यह मंगल अनुभव सब लोगों को प्राप्त होना कितना अच्छा होगा ऐसा विचार मन में उठता रहा, और इसका समाधान भी प्राप्त हुआ है। पूज्य श्री ब्रह्मचारी जी ने अपनी मधुर भावनी भाषा में श्री मद् भागवत्त को सरल हिन्दी में प्रसिद्ध करने का संकल्प किया था और उसके अनेक खंड प्रकाशित भी हो चुके थे इसका पुनः स्मरण हुआ जब श्रद्धेय श्री महाराज जी का कृपा पत्र मुझे प्राप्त हुआ कि श्री मद्भागवती कथा कथा लेखन का कार्य जो बीच मे रुक सा गया था उन्होने फिर करना प्रारम्भ कर दिया है और अब ७० वाँ खण्ड छप रहा है। श्री महाराज जी ने उसकी प्रस्तावना के रूप में मुझे कुछ लिखने का आदेश दिया। मुझे मेरी अयोग्यता का कुछ ज्ञान तो अवश्य है। अतः मैं निश्चय नही कर सका कि मुझे क्या करना उचित होगा। किन्तु श्री महाराज जी का आग्रहपूर्ण और एक पत्र आने पर यह धृष्टता करने बैठा हूँ।

इसमें मेरा एक ही काम है। सब बन्धुओं से माताओं से मैं नम्रता पूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि श्री ब्रह्मचारी जी की यह "श्रीमद्भागवती" कथा अपने पास रखें उसका अध्ययन मनन करें। मूल श्री भागवत महा-पुराण समझना सबके लिए संभव नही है। पंडितों की विद्वता की "भागवते परीक्षा" होती है यानी जो श्रीमद्भागवत रहस्य समझ सके वही विद्वान्, वही पंडित कहलाने योग्य माना जा सकता है ऐसा परम्परा से अपने यहाँ विश्वास है। श्रीमभद्भागवत् की रहस्य की गूढ़ता इससे अभिव्यक्त होती है। जहाँ पंडितों की बुद्धि कुंठित होती है वहाँ सामान्य श्रद्धालु वाचक की क्या स्थिति होगी यह समझना सरल है। फिर आज कल देववाणी संस्कृत के अध्ययन की उपेक्षा होने के कारण और भी कठिनाई उत्पन्न हुई है। ऐसे सब बन्धु क्या श्रीमद्भागवत को समझने से वंचित ही रहे? यह होना

वंचित नहीं। श्रीमद्भागवत तो सर्व श्रेष्ठ ज्ञान के परिपाक पर उत्पन्न होने वाली अद्वैत भक्ति का आधार है। श्री भगवान् की वह शब्दवपु ही है। उसके ज्ञान से वंचित रहने के समान मनुष्य का अन्य दुर्भाग्य हो नही सकता। इस दुर्भाग्य से रक्षण कर सर्वसामान्य मनुष्य को श्रीमद्भागवत का रहस्य सुगम भाषा में बताना, श्रीमद्भागवत मे अभिव्यक्त ज्ञान भगवत्स्वरूप तथा विशुद्ध पराभक्ति का बोध सब को अपनी बोली के माध्यम से प्राप्त कर देना आवश्यक है। और यह केवल शुष्क भाषानुवाद के रूप में न होकर उत्कट भक्ति भाव से होना आवश्यक है।

श्री ब्रह्मचारी जी भगवद् भक्ति में नित्य लीन रहते हैं। अतः उनके मुख से निकलने वाली सहजवाणी विशुद्ध भक्ति के मधुर रस से आर्द्र रहती है। ऐसी मृदु मधुर सरस भाषा में श्रीमद्भागवत महा पुराण रहस्य सबको अवगत करा देने के लिए वे कृत सकल्प है। अष्टोत्तरशत खण्डो मे ग्रन्थ पूर्ण करने की उनकी योजना है। उसमे से यह ७० वाँ खड है। शीघ्र ही शेष खड भी प्रकाशित होंगे और सामान्य सीधे साधे भोले किन्तु भक्ति की चाह रखने वाले असख्य श्रद्धालु बन्धुओं की अभिलाषा पूर्ण होगी ऐसा मुझे विश्वास है।

परम मंगल अकारण करुणामय दया घन श्री भगवान् की असीम कृपा से उनकी साक्षात् मूर्ति ही श्री भगवती कथा के शब्द देह को धारण कर प्रकट हो और ससार तप्त जन को शांति प्रदान करें इस हेतु उनके चरण कमलो में मैं विनम्र प्रार्थना करता हूँ।

केवल प्रस्ताविक के नाते अधिक लिखना मेरे लिए अशोभनीय होगा। वस्तुतः मेरा यह लिखना भी सामान्य छोटे से दीपक से सहस्र राशि सूर्य नारायण को प्रकाशित करने की चेष्टा के समान हास्यास्पद है। श्री महाराज जी की आज्ञा का पालन करना इसी एक उद्देश्य से यह धृष्टता की है जिसके लिए सब श्रेष्ठ भक्त, वाचक वृन्द से क्षमा याचना करता हूँ।

मा० स० गोलवकर

अपनी निजी चर्चा

[१]

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र-
कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥*

(श्री मद्भाग० १ स्कं० १९ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

माँ गंगे! अति सरस सुखद पय सतत पिआओ।
कृष्ण चरण रज सहित तुलसियुत नीर बहाओ॥
अज हर, सुर सब लोक करत पावन भू आओ।
करहु कृतारथ सबनि स्वरग सुख मोक्ष दिवाओ॥
तारे अगनित जीव जड़, अंत अंक आश्रय लहहिँ।
हत भागी ते मृतक नर, चरन शरन तव नहिँ गहहिँ॥

पूर्व जन्मों के संस्कार वश बाल्य काल से ही भगवती भागीरथी गंगा के प्रति मेरे हृदय में प्यार रहा है। जन्म भूमि

---

* गंगा तट पर पहुँच कर महाराज परीक्षित कह रहे हैं—श्रीकृष्ण चरण रज के संसर्ग से तुलसी विश्रित शोभायुक्त नीर को बहाने वाली श्री गंगाजी हैं। तथा जो लोकपालों सहित दोनों लोकों को पावन करने वाली हैं, ऐसी गंगाजी को कौन मुमुक्षु पुरुष सेवन न करेगा।

से गंगाजी ३० कोश बताई जाती हैं। उस ओर के श्री
के सभी घाटों पर प्रत्येक पूर्णिमा को नहान का मेला
है। बहुत से लोगों का तो प्रत्येक पूर्णिमा को गंगा स्नान
का नियम रहता है। कोई १२ पूर्णिमा २५ पूर्णिमा १०० पू.
की मानता मानते हैं। हमारा यह काम गंगाजी करदें तो
१२ पूर्णिमा नहायेंगे। इस प्रकार गंगा मैया तट से दूर
वालों को भी कभी न कभी अपने चरणों की शरण में बुला
हैं। जबकी मैं बातें कह रहा हूँ, तब मोटर बस आदि
प्रचार नहीं था। समर्थ लोग रथों में, बहली, मंझोली,
गाड़ी, गाड़ा, लढ़िया, लहड़ू आदि बैलों की गाड़ियों में गंगा स्ना.
के निमित्त जाते थे। घर से अचार, परामठे, लड्डूआ,
सकल से पारे नमकीन सकलपारे, मठरी, टिकियाँ आदि बना
कर पाथेय-टोसा बाँध कर ले जाते थे दो तीन दिन उसी टोसा
से निर्वाह करते गंगा तट पर पहूँच कर बालू में उड़द की
दाल बाटी बनाते गंगा जल में बनी दाल बाटी में सकरे
निखरे छूआ छूत-कच्ची पक्की का भेद भाव नहीं। गंगा किनारे
बैठकर खालो। बैल गाड़ियों की गंगा किनारे भीड़ लग जाती।
जो लोग गरीब होते जिनके घर में बैल गाड़ियाँ न होतीं, वे
लोग ऊँट गाड़ी सिकरमों में जाते। ऊँट की गाड़ी आधुनिक
बड़ी बसों के समान दुमंजिली होती। उनमें १८-२० आदमी
नीचे बैठते उतने ही ऊपर। प्रायः पुरुष नीचे की मंजिल में
बैठते ऊपर की मंजिल में महिलाएं बैठतीं। कभी-कभी महि-
लाओं की गोद के छोटे-छोटे बच्चे पेशाब कर देते। नीचे के
लोगों के ऊपर आता। कोई बुरा नहीं मानते यह कह कर
टाल देते थे पूत को मूत प्रयाग को पानी। ऊँट गाड़ियों में
कोल अलीगढ़ से अतरौली तक के ६ पैसा दो आना सवारी

लगती। वहाँ से रामघाट तक पैदल जाते। हरिद्वार से लेकर वालीवाला घाट, गढ़मुक्तेश्वर, विजनौर, गंज, हस्तिनापुर, शुक्रताल, भगवानपुर, अनूपशहर, भैरिया, कर्णवास, राजघाट नरौरा, नरबर, रामघाट, आदि जितने गंगा जी के घाट थे सभी पर पूर्णिमा के मेले लगते। गंगा दशहरा, कतिकी पूर्णिमा आदि को भारी भारी मेला लगते। मेला तो अब भी लगते हैं, किन्तु तब की सी श्रद्धा भक्ति अब कहाँ रही। गंगा जी से जो लौट कर आते, वे गाँव घर वालों को बाँटने के लिये प्रसाद अवश्य लाते। गंगाजी से लौटकर आये हैं, लोग प्रसाद माँगेंगे तो क्या देंगे। इसलिये प्रत्येक यात्री गंगाजी का प्रसाद लाता। प्रसाद की तीन वस्तुएँ होतीं। गंगा जल, गंगोटी और चनौरी या इलायची दाने। गंगा घाटों पर कांच की बनी गंगा जली बिकती थीं। वे बहुत ही पतले कांच की बनी रहती। उनके रखने को भाऊ के बने ढकोला बिकते थे। उन दिनों एक पैसे के दो तीन ढकोले मिलते थे। ढकोला में घास-फूस रख कर उसमें गंगा जली रख लेते। ढकोला सहित घास-फूस रखी हुई गंगाजली उन दिनों ६ पैसे दो आने में बड़ी हुई तो १० पैसे में मिलती थी। कावर लेनी हो अर्थात् कंधे पर रख कर दोनों ओर गंगा जली भरी रहती थीं। उन्हें प्रायः शिवरात्रि के अवसर पर भर कर लाते और सुप्रसिद्ध महादेवों के मन्दिरों में वह कावर चढ़ाई जाती थी। कैसी छटा होती थी गंगा जी के उन मेलों की। वे सब बातें अब स्वप्न हो गयीं। उन दिनों सभी देहातियों को चलने का अभ्यास था। कोई कोई तो ३०-३०, ३५-३५ मील एक दिन में चले जाते। दूसरे दिन गंगा नहा कर अपने गाँव में लौट आते थे। एक दिन में ३०-३५ कोश चलना साधारण सी बात समझी जाती थी। हम लोग बहुत

छोटे-छोटे बच्चे थे। पूर्णिमा के सायंकाल से या प्रतिपदा को गंगा जी से लौटने वालों की टोह लेते रहते। प्रसाद के लालच से। प्रसाद में एक बूँद गंगा जल, चने की बराबर गंगा की मिट्टी (गंगोटी) और दो चार चिनौरी या कोई बड़ा हुआ तो एक दो इलायची दाने। चिनौरी में और इलायची दानों में अन्तर रहता है, दोनों ही चीनी से बनती हैं चिनौरी तो समा या कांगुनी के बीजों से चीनी के बक्खर से बनाई जाती हैं, वे चना की बराबर छोटी होती हैं इसीलिये उन्हें चिनौरी कहते हैं। बड़ी इलायची के दानों से उनसे चौगुनी पचगुनी बड़ी बनती हैं उसे इलायची दाना कहते है। चिनौरी तो मीठी होती ही हैं और बच्चों को-विशेष कर-देहाती गांव के बच्चों को मीठा कितना प्रिय होता है, इसको सभी जानते हैं। किन्तु हमें तो सबसे अधिक स्वाद उन दो बूँद गङ्गाजल में आता था। गङ्गोटी (गङ्गा जी की मिट्टी) को हम लोग मिट्टी नही समझते थे। सोचते थे, यह कोई विलक्षण वस्तु है उसे माथे से शरीर से लगा कर खा जाते थे।

प्रसाद देने वाले गङ्गाजल की बूँदे बड़ी कृपणता से देते। क्योंकि उस गङ्गाजल को उन्हें घर में सँजो कर रखना भी होता था। उस गङ्गाजली के सामने नित्य नियम से दीपक जलाया जाता था।

जब गंगाजल प्रसाद में मिलता, तो बड़ी इच्छा होती, तनिक अधिक मिल जाय, उसमें अमृतोपम स्वाद प्रतीत होता था। सब कुछ भावना के ही ऊपर तो निर्भर करता है। तब तक हम यह नहीं समझते थे कि गंगाजी कोई नदी है। हम यही सोचते थे कहीं से थोड़ा-थोड़ा जल चूता होगा, ये लोग वहां से बड़ी कठिनाई से भरकर लाते होंगे, तभी तो इतनी कृपणता से एक-एक

चूंद देते हैं। मन में बड़ी अभिलाषा थी कि कभी एक पस भर कर गंगाजल पीने को मिल जाय। गंगा मैया ने यह भी इच्छा पूर्ण की और यह भी गंगा दशहरा के दिन।

सर्वप्रथम गंगा दर्शन

मुझे खूब याद है, उस समय मेरी अवस्था ३-४ वर्ष की रही होगी। क्योंकि रेल में मेरी टिकट नहीं ली गयी थी। स्टेशन से निकलते समय मेरी माँ मुझे गोदी में लेकर अपने वस्त्र से ढककर ले गयी थी। जिससे रेल बाबू मेरी टिकट न माँगे। स्यात् ३ वर्ष तक के लड़कों को टिकट नहीं लगती थी। मेरी अवस्था तीन से अवश्य ही कुछ बड़ी रही होगी। मातायें इस प्रकार की चोरी करने में कोई पाप नहीं मानती। सर्वप्रथम तभी मैं गंगाजी गया और तभी सर्वप्रथम रेल में बैठा। उन दिनों मेले के दिनों में मालगाड़ी के डिब्बे लग जाते थे। यात्री मालगाड़ी के डिब्बों में ही जाते थे। हम जब पहिले पहिल गये थे, तो तीसरी श्रेणी के एकदम नये डिब्बे बन कर आये थे। हमारे साथियों को तो मालगाड़ी के डिब्बों में चढ़ने का अभ्यास था। उन चमचमाते डिब्बों में मारे डरके कोई चढ़े नहीं। सभी कहें—अरे, ये तो फस्ट किलास के है, इनमें चढ़ोगे तो ड्योढ़ो किरायो लग जायगो। फिर एक पढ़े-लिखे आदमी ने बताया—"नहीं, यह थरड किलास के ही डिब्बे हैं, इनमें चढ़ जाओ।" तब हम सब चढ़े और फैल फूट कर बैठ गये।

रेल से गगा स्नान जाना होता तो राजघाट तक सीधी रेल जाती। ऊँटगाड़ियों में जाना होता तो अतरौली तक पक्की सड़क थी वहाँ तक ऊँटगाड़ियों में जाते। वहाँ से रामघाट ७ कोश है उतना फिर पैदल चलना पड़ता। चाँदनी रात्रि में हंसते

खेलते "गंगा मैया की जै", "थांरा वाली की जै" राधे, बां
प्यारे, हनुमान की हुं, के नारे लगाते हुए मेले के साथ-साथ चं
जाते। वे ७ कोश मालूम ही न पड़ते। रास्ते में पग-पग प
प्याऊ। ठंडा पानी पीओ, कोई पानी के साथ गुड़ भी देते
कोई चना और गुड़ की जमाई हुई 'गुड़चनी' देते। हम लो
गाँव के धर्मभीरु लोग दान पुण्य की इन वस्तुओं को नहीं लेते
यही नही जिस प्याऊ पर पानी पीते उस प्याऊ वाले को भी ए
पैसा दे देते। जिससे पानी पिलाकर वह हमारा पुण्य न लेले।
एक बुढ़िया पिसनहारी की प्याऊ थी। आटा पीस-पीस क
उसको पिसाई से उसने प्याऊ लगवाई थी। कैसी लोगों की धर्म
भावना थी। दो पैसे में पाँच सेर अन्न पीसना पड़ता। दस-दस
सेर नित्य अन्न पीसकर १०-२० वर्ष में १५०-२००) इकट्ठे कर
लिये। १५०-२०० होते ही उनकी सबसे पहिले इच्छा यही होती,
मेरे इन पैसों से कोई कूआ बन जाय, कहीं तिदरी बन जाय, या
प्याऊ ही लग जाय। सेठों पर पैसा आ जाता तो वे धर्मशाला,
पाठशाला, औषधालय, सदावर्त आदि लगाते उन दिनों यही
मुख्य समझा जाता। अब तो जो आवे अपनी ही सुख सुविधा में
लगाओ। सैकड़ों बहुमूल्य साड़ियाँ खरीदो। मोटर लो वातानु-
कूलित घर बनवाओ। धरम-करम सब ढोंग है, पिछड़ापन है,
बामनों की ठग विद्या है।

सर्वप्रथम राज घाट में ही भव भयहारिणी त्रिताप शमनी
भगवती भागीरथी के दर्शन हुए। उन दिनों गंगा जी में जल
थोड़ा ही था, तब तक भी हम यह नहीं समझ सके कि यह कोई
नदी है। तभी यही समझा यह कोई तालाब है और रेल के पुल
तक भरा हुआ है। हमारा यह भ्रम तो दूर हो गया कि तनिक
तनिक रिसने वाला जल नहीं है, बड़ा भारी तलाव है। ज्येष्ठ

ती गरमी के दिन-चिरकाल की अभिलाषा आज सजीव साकार हुई। मुझे याद नहीं दिन में ५० बार स्नान किया या १०० बार-ऐसा लगा किसी जन्म के दरिद्री को अपार धन राशि मिल गयी हो। बिना प्यास के भी पचासों बार जल पीते। अभी स्नान किया है, लौटकर खरबूजा खा लिया। फिर स्नान, चनोरी खाली फिर स्नान। कैसी उस समय की भावना थी। हाय: वह अब पुनर्जन्म की सी बातें हो गयीं। दो या तीन दिन गंगा किनारे रहे। वे दिन कैसे स्वर्गीय सुख की भाँति बीते। वे गंगा जल में बनी रोटियाँ, वह उड़द की दाल लिखते लिखते अब भी मुँह में पानी भरा आ रहा है। गंगा मैया की यह सर्वप्रथम कृपा थी।

इसके पश्चात् तो अनेक बार गंगा स्नान को गये। अनूप शहर में महीनों गगा किनारे रहे परन्तु गंगा तट वासी बनने की जो एक जन्म जन्मान्तरीय अभिलाषा थी वह पूरी नहीं हुई।

सन् २१ के असहयोग आंदोलन में जेल गये वहाँ से ६ महीने पश्चात् छूट कर सीधे गंगा किनारे अनूप शहर आये। वहाँ महीने भर रहकर चांद्रायण व्रत किया और मैया से प्रार्थना की माँ अब मुझे अपने चरणों से पृथक् मत करना। माँ ने मेरी यह बात मान ली और मैं काशी जी में आकर गंगा किनारे रहने लगा। किन्तु इस वैराग्य ने मुझे कहीं टिकने नहीं दिया। सोचा-ऐसे हो सर्व साधारण पुरुषों की भाँति जीवन बिताओगे। संसार में एक आदर्श स्थापित करो, त्याग वैराग्य का उच्चादर्श दिखा दो। इस पर भी गंगा ने नहीं छोड़ा सोचा—गंगा किनारे-किनारे बिचरेंगे, जो भी भिक्षा मिल जायगी उसी पर निर्वाह करेंगे, पक्षियों की भाँति अनिकेतन, अपरिग्रही बनकर जीवन

बितायेंगे। गंगा किनारे-किनारे चल पड़े। गंगा जी ने नहीं छोड़ा नहीं छोड़ा।

रोटी माँगने में बड़ी लज्जा, अत्यंत संकोच कभी माँगा नहीं। दो चार लड़के साथ रहते वे ही माँग लाते मैं तो माँगी हुई भिक्षा को बाँटकर खाने वालों में था। गंगोत्री तक सर्वत्र देखा। किसी ऐसे स्थान की खोज में थे, जहाँ जंगलो कंद मूल फल बारहो महीने मिल जायँ, जिससे किसी के यहाँ माँगने न जाना पड़े, किन्तु गंगा किनारे ऐसा कोई स्थान नहीं मिला। सन्त महात्माओं से पूछता रहा। किसी ने कहा—चित्रकूट के जंगल में कंदमूल फल मिलते है। बहुतों ने कई प्रकार की कथायें भी सुनायीं। एक दिन हम लोग मार्ग भूलकर भटकते-भटकते चित्रकूट के जंगल में पहुँचे। कही मार्ग ही नहीं दीखता था सर्वत्र अंधेरा था चलते-चलते एक महात्मा की कुटी में पहुँचे उन्होंने पूछा—"कुछ खाओगे" हमें भूख बड़े जोर की लगी थी हाँ, कहने पर उन्होंने धूनी में से एक सकरकंदी से भी बहुत बड़ा कंद निकाली। उसे वस्त्र के ऊपर झाड़ा। उसमें से चावल के दानों की भाँति बहुत से दाने निकले, उन्हें हमने खाया अत्यत ही स्वादिष्ट थे। खूब पेट भर गया।"

इन बातों को सुन-सुनकर मेरे मन में भी यही बात आई, कि ऐसे कंदों का कोई वन मिल जाय, तो जीवन भर वहीं रहूँ। चित्रकूट गया। कंदमूलों की खोज की। किन्तु काल के प्रभाव से जंगली कंदमूल फलों को तो वसुन्धरादेवी ने अपने गर्भ में छिपा लिया। लोगों ने बताया आज से ५०।१०० वर्ष पहिले तो कुछ कंदमूल फल थे। जिनसे कुछ महात्मा किसी प्रकार जीवन निर्वाह कर सकते थे, किन्तु अब तो वन ही नहीं रहे। जिस कंद की बात कही जाती है कि चावल के दाने से भूनने पर

निकलते हैं, वह कंद यहाँ थी तो सही। एक वैरागी महात्मा थे उनको उसका ज्ञान था। उनके शरीरान्त के पश्चात् अब कोई उस कंद को नहीं जानता। अब भी कहीं-कहीं कंद हैं किन्तु वे खाने योग्य नहीं है। कमर को बराबर गड्ढा खोदो। दिन भर खोदते रहो कभी उसमें से कंद निकल आवेगी कभी नहीं भी निकलेगी। वह खाने में कसैली कड़वी होती है। उससे पेट नहीं भरेगा १२ महीने केवल कंदमूलों पर ही रहकर निर्वाह किया जाय, ऐसा कोई स्थान नहीं। चित्रकूल के कंदमूल के नाम से जो माघ मेले में कंद बेचते है, वह कन्द नहीं। खजूर क जड़ है, हाथ में एस्कौन लगाकर बहुत पतले परत को मीठा बना देते हैं यह ठग विद्या है। इतना बड़ा कंद चित्रकूट में कही नहीं मिलता।"

इन बातों को सुनकर निराश होकर मैं चित्रकूट से लौट आया। फिर किसी ने बताया नर्मदा किनारे कन्दमूल फल मिलते हैं यह सुनकर हुसंगाबाद के समीप नर्मदा किनारे गया। सोचा था "रेवातीरे तपः कुर्यात मरण जान्हवीतटे"–तपस्या करनी हो तो नर्मदा के तट पर करे किन्तु मरना हो तो गंगा जी के ही किनारे आकर मरे। मृतकों को एक मात्र आश्रय देने वाली श्री गंगा जी ही है, "कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः" ऐसा कौन मुमुर्षु पुरुष होगा जो ऐसी गंगा जी का सेवन न करे।"

नर्मदा किनारे भी मेरी आशा निराशा में ही परिणित हुई। वहाँ से लौटकर फिर तीर्थराज प्रयाग में प्रतिष्ठानपुर (झूसी) में हंसतीर्थ पर रहने लगा। गंगा, यमुना और सरस्वती तीनों माताओं ने अपना लिया। झूसी वाले बाबा बन गये।

यह जीव पूर्वकृत वासनाओं से बंधा है। कुछ वासनायें, शुभ होती हैं, कुछ अशुभ। कुछ सद्वासनायें हैं कुछ असद्वासनायें।

कैसी भी क्यों न हो प्राणी पूर्व कर्मकृत वासनाओं से बँधा है। उन वासनाओं का ऐसा सुदृढ़ जाल है, कि मनुष्य कितनी भी इच्छा करे। उसे वासनायें ठेल ठालकर उसी ओर ले जायँगी। इसीलिये भगवान् ने गीता में अर्जुन से कहा—यदि तू अहंकार के वशीभूत होकर इस बात का आग्रह करे, कि मैं युद्ध न करूँगा, तो तुम्हारा यह व्यवसाय मिथ्या है, प्रकृति तुम्हें पूर्व जन्मकृत कर्मों द्वारा निर्मित वासनाओं के अनुसार उन्हीं कार्यों में नियुक्त कर देगी। तू करना भी न चाहेगा तो तुझे अवश होकर उस कार्य को करना पड़ेगा।"

जब काशी से गंगा किनारे चला था, तब कागद लेखनी फेंककर यह प्रतिज्ञा करके चला था, कि अब सफेद कागदों को काला न करूँगा। अब लेख पुस्तकें न लिखूँगा, किन्तु मेरा यह व्यवसाय मिथ्या सिद्ध हुआ। 'भागवती कथा, जैसे विशाल ग्रन्थ के लेखन में प्रकृति ने-वासनाओं ने-प्रवृत्त कर दिया। पहिले सोचा था यह ग्रंथ ५०।६० भागों में पूरा हो जायगा। किन्तु जब ६० भागों में केवल कथा प्रसंग ही आया तो १०८ भाग में लिखने की प्रसिद्धि हो गयी। बीच में अनेक विघ्न आये, मन ने बारंबार धिक्कारा अरे, तैने किस लिये घर छोड़ा था, करने क्या लग गया। लेखन प्रकाशन, कागद, कलम, स्याही प्रेस, किस गोरख धंधे में फँस गया। छोड़ इन झंझटों को। किन्तु झंझट मुझे छोड़े तब न।

गंगा जी में कोई रीछ बहा जा रहा था। एक गुरु चेल नहा रहे थे। चेला ने समझा काला कंबल बहा जा रहा है, इसे तैर कर ले लूँ जाड़ा ही कटेगा। गुरुजी मना करते रहे, वह माना ही नहीं। उसे तो अपनी तैरने की विद्या का अभिमान था। जाकर झट रीछ के पास पहुँच गया। ज्यों ही रीछ को पकड़ना चाहा

रीछ ने उसे स्वयं ही पकड़कर अपने पंजों में कस लिया। चेला जी उससे छुड़ाने का बहुत प्रयत्न करने लगे, किन्तु रीछ का पकड़ा सहज नहीं छूट सकता।

किनारे पर खड़े गुरुजी ने जब देखा कि चेला जी तो गंगा के प्रवाह में बहे चले जा रहे हैं, तो वे चिल्लाये—"अरे, कंबल हाथ नहीं आता है, तो जाने दे, उसे छोड़कर तू तो पार हो जा।" तब चेला ने उत्तर दिया—"गुरुजी! मैं तो कंबल को बहुत छोड़ना चाहता हूँ, किन्तु कम्बल मुझे छोड़े तब तो?"

सो वास्तव में मुझे कंबल ने कसकर पकड़ लिया है। इस मान, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि कीर्ति के कंबल रूपी रीछ ने मुझे इस प्रकार कस कर पकड़ लिया है, कि मैं छटपटाता हूँ, पूरा प्रयत्न करता हूँ, किन्तु इसके पंजों से छूट नहीं सकता। यह मुझे पूरा विश्वास है, कि श्याम सुन्दर कभी न कभी तो मेरी सुधि लेंगे। मेरी वासनाओं की पूर्ति करके मुझे पार लगा देंगे।

लोग कहते हैं—"अजी, महाराज! आप तो परोपकार कर रहे हैं, आप कुछ अपने लिये थोड़े ही करते हैं। आपको पता नहीं भागवती कथा से कितने लोगों का कल्याण हुआ है, कितने भूले भटके सुमार्ग पर आये हैं। सहस्रों स्थानों पर इसकी नित्य प्रति नियम से कथा होती हैं, कितने लोग इन कथाओं को श्रवण करके कल्याण मार्ग में अग्रसर हुए हैं। भागवत चरित के कितने व्यास गाँव-गाँव नगर-नगर जाकर भगवान् की कथा कहते हैं, कितने लोग भागवत् चरित, का नित्य नियम से पाठ करते हैं। लोगों का कल्याण ही हो रहा है।"

लोगों का कल्याण हो रहा हो, यह तो उनका कल्याण है, किन्तु अपना तो कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता दिखायी नहीं देता। भागवती कथा में कोई नई बात तो लिखी नहीं भगवान्

वेदव्यास के ही वचनों को इधर उधर से लेकर सजा दिया है। जैसे स्वामी का बहुत सुन्दर नाना भाँति के पुष्पों से सुसज्जित पुष्पित उद्यान हो। फूल के नाना वृक्षों को उसने लगवाया हो, माली यदि उन फूलों को तोड़कर उसका हार बना देता है, तो इसमें माली की क्या विशेषता? भगवान् व्यास ने तो कोई विषय छोड़ा ही नहीं। "व्यासोच्छिष्टमिदं जगत्" इस जगत् का का समस्त ज्ञान व्यास जी का उच्छिष्ट है। व्यास जी जो भी कुछ कह गये हैं परवर्ती लोग उसी का विस्तार मात्र करते हैं। जब लोग व्यास जी के ही वचनों से लाभ नहीं उठाते तो मेरे वचनों से क्या लाभ उठावेंगे। संसार तो सदा से ऐसा ही चला आ रहा है, ऐसा ही चलता जायगा। कुत्ते की पूँछ को कितना भी दबाकर रखो, वह टेढ़ी की टेढ़ी ही बनी रहेगी। व्यास जी स्वयं रो-रो कर कहते हैं "ऊर्ध्ववाहु विरोम्येतत् न काश्चित् शृणोति मे।" मैं दोनों हाथों को उठाकर रो-रो कर कह रहा हूँ, किन्तु कोई मेरी बात को सुनता ही नहीं। अरे, धर्म से अर्थ भी प्राप्त हो सकता है, धर्म से कामोपभोग भी हो सकता है। ऐसे धर्म का तुम सेवन क्यों नहीं करते।" जब व्यास जी की ही कोई बात नहीं सुनता, तो मुझ जैसे अल्पज्ञ की कौन सुनेगा। इसलिये लोक का कल्याण होगा। बहुत से लोगों को लाभ होगा, केवल इस भावना से तो मैं लिखता नहीं। मेरी तो वासना मुझे बार-बार विवश कर देती है। लिखे बिना नहीं रहा जाता। इर-फिर कर जब दूसरे कामों से उपरत होता हूँ, तो लिखवास लगती है। लिखने लगता हूँ, बीच में फिर कोई वासना उदय हो गयी– सस्ती प्रसिद्धि का फिर कोई अवसर प्राप्त हो गया–तो फिर उधर लग जाता हूँ, धूमधड़ाका मचाने लगता हूँ, जेल चला जाता हूँ। स्वयं जाता हूँ, सो बात नहीं, कोई भेज देता है। धूम

घड़ाके के बिना रहा नहीं जाता "स्वभावो दुरतिक्रमः" स्वभाव छूटना बड़ा कठिन है।

भागवती कथा संवत् २००० या २००१ में लिखनी प्रारम्भ हुई। संवत् २००३ में इसका प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ था। सोचा था—प्रत्येक महीने एक खण्ड निकाला करेंगे, इस प्रकार ६ वर्ष में इसके पूरे खण्ड निकल जायँगे। यदि नियमित रूप से निकलती होती तो संवत् २०१२ में इसके पूरे १०८ खण्ड निकल जाते किन्तु ६० खण्ड तक पहुँचते-पहुँचते इसे ८ वर्ष लग गये। ६० वाँ खण्ड संवत् २०११ में प्रकाशित हुआ था। उस समय तक भागवती कथा का केवल कथा भाग ही समाप्त हुआ था। प्रकाशन के झंझटों से बड़ी ऊब आ गयी सोचा—अब होना था, सो हो गया ६० तक ही समाप्त कर दो। बीच में रुक गये और आंदोलनों में लग गये। फिर मन न माना तनिक अवसर मिलने पर पुनः प्रेरणा हुई कम से कम माहात्म्य तथा स्तुतियों को तो लिख ही दो। अतः पुनः संवत् २०१२ से महात्म्य के दो खण्ड एक वर्ष में लिखकर छपाये। फिर संवत् २०१३ से लेकर संवत् २०१७ तक ४ वर्ष में ६ खण्ड स्तुतियों के छपाये। और पाठकों से कह दिया। अब यहीं भागवती कथा की समाप्ति समझें। हिसाव-किताब बेबाक जिसका जितना लेना-पावना हो उतने की और पुस्तकें मँगा लें। भागवती कथा तो कभी समाप्त होने की वस्तु नहीं। अनन्त की कथा भी अनन्त है, इसका कहीं अन्त नहीं और जहाँ अन्त करना चाहो वहीं अन्त है ६ वर्ष तक फिर लेखन कार्य से उपरत रहे।

संवत् २०२३ फिर एक झोका आया। गीतावार्ता भी तो भागवती कथा है भागवती कथा के गीतावार्ता खण्डो को भी लिखो। गीतावार्ता का प्रथम खंड (अर्थात् भागवती कथा का ६६वाँ खंड) संवत् २०२३ में प्रकाशित हुआ। फिर तो ऐसा तूफान उठा कि बड़े-बड़े वृक्षों की जड़े हिल गयीं। इस उथल पुथल के

जीवन में बड़े-बड़े अनुभव हुए। अब तो फिर से लिखवाद ने जोर मारा है लिखने का पर्व आया है। प्रत्येक खंड में २०।२१ अध्याय भागवती कथा के रहेंगे, तो एक अध्याय में "अपनी निजी चर्चा" भी रहा करेगो। उसमें पाठक पाठिकाओं को अपने अनुभव की कटु बातें बताता रहूँगा। यद्यपि ये चर्चा गंगा जी की गैल में मदार के गीतों के समान है। मखमली गद्दी मे टाट की थेगरी के,समान है, रत्नों को माला में काच के मन के समान है। पाठकों को पसंद हो न हो। मुझे तो कहना ही होगा। पाठकों से मेरा आत्मीयता का पारिवारिक सम्बन्ध है। अपने आत्मीयों से परिवार वालों मे अपने दुख-सुख की अनुभव की कड़वी, खट्टी बातें बतानी ही पड़ती है। दुख-सुख कहने मे चित्त हलका हो जाता है, दुख सुख-बँट जाता है। अतः पाठक गोरक्षा-अंदोलन की बातें उपवास की घटनायें सब सुनने को तैयार हो जायँ और अब फिर से भागवती कथा के स्थायी सदस्य बन जायँ, अब गङ्गा जी माँ ने पुनः अपने चरणों में बुला ही लिया है। अपने समस्त साथी एक-एक करके चल बसे। हमने भी अब बोरिया बिस्तर बाँध बूँध कर तैयार कर लिया है, पता नहीं कब बुलावट आ जाय। अब तो जब तक भी जीना है, लिखना ही है। लिखना मेरा सहज धर्म हो गया है। भगवान् ने कहा है "सहजं धर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजत्" सो इस लेखन प्रकाशन में दोष ही दोष हैं लिखने में तो कोई श्रम होता नहीं। झंझट की जड तो प्रकाशन है। प्रकाशन आजकल विशुद्ध व्यापार बन गया है। जो जितना चतुर व्यापारी होगा वह प्रकाशन में उतना ही अधिक सफलता प्राप्त कर लेगा। हम बहुत प्रयत्न करें और चाहें भी तो इस व्यापार में सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। क्योंकि यह स्वधर्म नहीं पर धर्म है। फिर भी सभी सफल थोड़े होते हैं। हमारी गणना असफल ही व्यापारियों में होगी। बस, इतना ही तो है। इसलिए अब तो यह व्यापार फिर से आरम्भ कर ही दिया है सुख हो दुःख हो,हानि हो लाभ हो, जय हो पराजय हो। सहजकर्म छूटता नहीं चौबीस घंटे समाधि में रह नहीं सकते। इससे अच्छा है भागवत सम्बन्धी कथाओं का ही मनन-चिन्तन हो। — : — —

गंगा जी ने अब तक तो कृपा की ही है, मैं भले ही उन्हें छोड़कर चला गया होऊँ, किन्तु उन्होंने मुझे नहीं छोड़ा है। माँ! यह तुम्हारे अनुरूप ही है। पुत्र कुपुत्र भले ही हो जाय किन्तु माँ कभी कुमाता नहीं होती। इसलिये हे जननि! मुझे जैसे अब तक अपनाया है, वैसे ही अन्त तक निबाह लो। इस शरीर की अस्थियाँ आपके पावन प्रवाह में मिल जायँ, यही मेरी भीख है। अब जीवन की सांध्य वेला में एक मात्र तुम्हारा ही सहारा है। साथी सब छोड़कर चले गये। बहुत से परलोक वासी हो गये। बहुत से मुझे निकम्मा समझकर अपने स्वार्थ की सिद्धि न होते देखकर मुझे छोड़कर अन्यत्र चले गये। बहुत से द्वेष करने लगे— तरह-तरह के लांछन लगाकर बदनाम करने की चेष्टा करने लगे। सबने त्याग दिया किन्तु माँ तुमने अब तक नहीं त्यागा। तुम ही इस अधम पर कृपा की दृष्टि की वृष्टि करती रहीं। माँ इसी प्रकार अन्त तक अपने क्रोड में स्थान देकर दीन हीन मति मलीन को अपनाये रहना यही मेरी भीख है हाँ, तो शेष अगले खंड में।

छप्पय

जननी! भटक्यो बहुत अधम पै करुना कीजे।
आयो तुम्हरी शरन मातु अब आश्रय दीजे॥
तव तट तजि माँ! दुखित फिर्यो हौं मार्यो मार्यो।
विषयवासना फँस्यो मोह जग बन्धन डार्यो॥
मान प्रतिष्ठा यश निमित, फिर्यो दंभ छल कपट युत।
गही शरन तव चरन की, अपनाओ हौं अधम सुत॥

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)
पुरुषोत्तममास (अधिक आषाढ़) शु० १
सं० २०२६ वि०

माँ का अधम सुत
प्रभुदत्त

गीता माहात्म्य

(प्रथम अध्याय)

[१]

शृणु सुश्रोणि वक्ष्यामि गीतासु स्थितिमात्मनः ।
वक्त्राणि पञ्च जानीहि पञ्चाध्यायाननुक्रमात् ॥
दशाध्यायान् भुजांश्चैकमुदरं द्वौ पदाम्बुजे ।
एवमष्टादशाध्यायी, वाङ्मयी मूर्तिरैश्वरी ॥*

(पद्म० पु० उ० म० १७१,२७,२८ श्लो०)

छप्पय

गीता मेरी मूर्ति मोइ गीता मय मानों ।
प्रथम पाँच अध्याय पाँच मुख मेरे जानों ॥
हैं जो दश अध्याय भुजादश मेरी मनहर ।
सोलहवो मम उदर जगत् पालक अति सुखकर ॥
शेष बचे अध्याय द्वै, चरन कमल मेरे मृदुल ।
माँ गीता की गोद में, पावें सुख सब नर सरल ॥

*श्री भगवान् लक्ष्मी जी से गीता को अपना स्वरूप बताते हुए कहते हैं—हे सुन्दरि गीता मे मैं अपनी स्थिति का वर्णन करता हूँ । पहिले ५ अध्याय मेरे पांच मुख हैं १० अध्याय मेरे दस हाथ हैं । सोलवां अध्याय मेरा उदर है और १७ वां १८ वा अध्याय मेरे दोनों पैर हैं । इस प्रकार १८ अध्यायों वाली यह मेरी वाङ्मयी मूर्ति है ।

श्रीमद्भागवत गीता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की वाङ्मयी मूर्ति है। भगवान् का शरीर ही है। शरीर में मुख्यतया ४ही अंग प्रधान हैं हाथ, पैर, उदर -मुख। श्रीभगवद् गीता में १८ अध्याय हैं। यह गीतामयी भगवत मूर्ति पंचमुखी है। पंचमुखी कहने का अभिप्राय पंचभूत पंचतन्मात्रायें, पंच प्राण पंच ज्ञानेन्द्रिय पंच कर्मेन्द्रिय तथा पंच देवो मय है। इसलिये पहिले पाँच अध्याय तो पंचमुखी भगवान् के पंच मुख हैं, और छटे से लेकर १५ तक ये दश भगवान् के हाथ है। अर्थात् दशों दिशायें हो उनके हाथ हैं। सोलहवां अध्याय उदर है। निखिल विश्व ब्रह्माण्ड ही उनका उदर है। और सत्रवें और अठारवें ये दो उनके पैर हैं। जीवात्मा और परत्मा। इस प्रकार यह गीता विराट् भगवान् की वाङ्मयी मूर्ति हैं। इस गीता-शास्त्र के पठन-पाठन से, श्रवण मनन से, ध्यान धारणा से भगवान् के विराट् स्वरूप का ज्ञान होता है।

भगवती सती ने अपने जीवन में अनुभव कर लिया, कि माता-पिता, भाई-बन्धु सगे-सम्बन्धी कोई भी अपने नहीं होते। अपने तो एक जगत्पति ही हैं, इसलिये दूसरे जन्म में वे पवत की पुत्री पार्वती जी ही हुई और उन्होंने अपनी घोर तपस्या द्वारा अपने प्राणधन भगवान् शंकरजी को ही पुनः पतिरूप से प्राप्त कर लिया। अब के उन्होंने भगवान् शंकर जी से लौकिक प्रश्न पूछे ही नहीं। सब परमार्थ सम्बन्धी ही प्रश्न किये। जितने तन्त्र हैं मन्त्र हैं, माहात्म्य हैं सब भगवती पार्वती ही द्वारा प्रकट किये हुए हैं। लोक कल्याणार्थ भगवती पार्वती प्रश्न पूछ देती हैं। भगवान् शंकर स्नेह वश उसका समाधि भाषा में उत्तर दे देते हैं। माँ का इन संसारी जीवों के प्रति कितना उपकार है। इसी प्रकार एक दिन माता पार्वती जी ने शिवजी पूछा—"प्रभो! आप भगवान्

विष्णु के अनन्य उपासक हैं और भगवान् विष्णु भी आपकी पूजा करते हैं। समय-समय पर आपने मुझे भगवान् की महिमा सुनायी है। आज मै आप से एक और प्रश्न करना चाहती हूँ।"

शिव जी ने हँसकर कहा—"हाँ, हाँ, देवि! तुम निःसंकोच होकर पूछो क्या पूछना चाहती हो, मुझे तो भगवत् सम्बन्धी प्रश्न कोई अच्छा अधिकारी पूछे तो उसका उत्तर देने में बड़ा आनन्द आता है।"

पार्वती जी ने कहा—भगवन्! मैंने सुना है श्री मद्भागवत् गीता भगवान् की वाङ्मयीमूर्ति है, अतः मै आज श्री मद्भगवत् गीता का महात्म्य सुनना चाहती हूँ।"

यह सुनकर भगवान् शंकर हँसे और बोले—"देवि! तुम तो सदा जीवों के कल्याण के ही लिये प्रश्न किया करती हो। अच्छी बात है, तुमने बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया। जैसा तुमने मुझसे प्रश्न किया है, ऐसा ही प्रश्न भगवती लक्ष्मी जी ने अपने प्राणनाथ भगवान् विष्णु से किया था।"

पार्वती ने कहा—"भगवन्! लक्ष्मी जी ने किस प्रसंग में यह पूछा था?"

शिवजी बोले—"देवी! लक्ष्मी जी जगन्माता हैं न? वे भी जगत् के जीवों के कल्याण के निमित्त अपने प्राणवल्लभ परमेश्वर से प्रीति पूर्वक पूछती रहती हैं। एक दिन लक्ष्मी जी ने पूछा—"महाराज! आप सोते बहुत है। जगत् के पालन का इतना भारी काम तो आपने अपने सिर पर ले रखा है और फिर भी जब देखो तब शेष नाग की सुखद शैया पर सदा सुख पूर्वक सोते ही रहते हैं। अपने इतने भारी ऐश्वर्य के प्रति उदासीन ही बने रहते हैं।"

यह सुनकर शेषशायी भगवान् हँस पड़े और बोले—"देवि ! यही तो तुम्हारा भ्रम है, मैं सोता नहीं।"

लक्ष्मी जी ने कहा—"महाराज ! मैं तो सदा आपके परम कोमल अरुण वरण के चरणारविन्दों को शनैः शनैः सुहलाती रहती हूँ, आप उस समय झपकियाँ लेते रहते है।

भगवान् बोले—"देवि ! मै झपकिया नहीं लेता। मैं अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा माहेश्वर तेज का साक्षात्कार करता रहता हूँ। लक्ष्मी जी ने पूछा—कैसा है, वह तेज प्रभो ! भगवान् विष्णु ने कहा—वह तेज अजर अमर, प्रकाश स्वरूप, आत्मरूप शोक रोग आदि से रहित, अखण्ड, एकरस, आनन्दपुंज, नित्य, निरोह, एक, अद्वितीय है। उसी के ध्यान मे मै मग्न रहता हूँ। तुमको प्रतीत होता है, कि मैं सो रहा हूँ।"

लक्ष्मी जी ने आश्चर्य के साथ पूछा—प्रभो ! सब लोग तो आपका ध्यान करते हैं, आप किसका ध्यान करते हैं। यह माहेश्वर तेज आप से भिन्न है क्या ?"

भगवान् ने कहा—"देवि वह तत्व द्वैत, अद्वैत से भिन्न है। परमात्म स्वरूप है। गीताशास्त्र में मैंने उसका वर्णन है किया है।"

यह सुन लक्ष्मी जो बोली—"प्राणनाथ ! आपका स्वरूप स्वयं परमानन्दमय है और उसे आप मन, वाणी का विषय भी नहीं बताते तो गीता उसका वर्णन कैसे कर सकती है ?"

भगवान् विष्णु ने कहा—कहा—देवि ! गीता तो मुझसे भिन्न नहीं। वह भी तो मेरा स्वरूप है।

लक्ष्मी जी ने कहा—"जब गीता आपका स्वरूप ही है आपसे भिन्न कहाँ रहा ?"

भगवान् ने कहा—देवि ! मैं भिन्न भाव कहता हूँ। जैसे सहस्रों नाम हैं यद्यपि मैं नाम रूपों से सदा परे हूँ, फिर भी किसी भी एक नाम का श्रद्धाभक्ति पूर्वक मनुष्य आश्रय ले ले वह एक नाम के ही प्रभाव से संसार सागर से सदा के लिये पार पहुँच जायगा। उसी प्रकार अठारह अध्याय वाली श्लोक वाली गीता के एक श्लोक आधा श्लोक अथवा पा श्लोक को भी जो अपने जीवन में ढाल लेगा। उसे ही आदर्शवचन मानकर उसके अनुसार जीवन यापन करेगा तो संसार सागर से उसी भाँति विमुक्त हो जायगा, जैसे सु- नामक ब्राह्मण गीता के केवल प्रथम अध्याय के पाठ से ही हो गया था।"

यह सुनकर लक्ष्मी जी ने अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ पूछा—"प्रभो ! वह सुशर्मा ब्राह्मण कौन था और कैसे वह गीता के प्रथम अध्याय के पाठ से मुक्त बन गया इस प्रसंग को कृपा करके मुझे सुना दें।"

भगवान् ने कहा—"देवि ! सुशर्मा न तो कोई कुलीन ही था, न ब्राह्मणोचित कर्म करने वाला कोई सद्गृहस्थ। वह जाति का तो ब्राह्मण अवश्य था, किन्तु कार्य उसका एक भी ब्राह्मणों के समान नहीं था। वह कृषि कार्य करता, जंगलों में से पत्ते लाकर बेचता था। मांस मदिरा का सेवन करता था, कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि उससे कोई भी कुकर्म बचा नहीं था। एक दिन वह बन में किसी पत्ते लाने को गया था, वहाँ किसी काले सर्प ने उसे डस लिया उसकी अकाल मृत्यु हो गयी।

लक्ष्मी जी ने पूछा—"फिर क्या हुआ भगवन् !

भगवान् बोले—"पापियों के लिये जो होता है, वह उसके लिये भी हुआ। यमराज ने उसे नाना नरकों में डाल दिया। नरकों की यातनायें सहता हुआ वह अपने दुष्कृत कर्मो का फल भोगता रहा। जब उसके कुछ पाप शेष रहे, तो पृथ्वी पर आकर बैल की योनि में उसका जन्म हुआ।

बैल बड़ा हुआ। एक पंगु मनुष्य था, उसने एक बैल की गाड़ी बनवायी। उसी गाड़ी में जोतने के लिये उस बैल को क्रय कर लिया। वह पंगु बड़े ठाठ के साथ उस गाड़ी मे बैठकर घूमा करता था और उस बैल को भी खूब घुमाता था। एकदिन पहाडी मार्ग पर उसने उसे बहुत घुमाया, इससे वह बैल अत्यन्त थक गया और मूर्छित होकर गिर पड़ा। पंगु गाड़ी में ही बैठा रहा। एक नगर की सड़क पर वह गिरा था। बहुत से लोग कुतूहल वश उसे देखने आये। दर्शनार्थियों की एक बड़ी भारी भीड़ लग गयी।

तब उनमें से एक धर्मात्मा पुरुष बोले—"अरे, भैया! यह जीव अपने पाप कर्मों के कारण ऐसी यातना भोग रहा है, इसके निमित्त सभी लोग अपना-अपना थोड़ा-थोड़ा पुण्य दान करो, जिससे इसका परलोक बन सके। सबसे पहिले तो मै अपनी एक एकादशी के पुण्य का दान करता हूँ। दूसरे ने कहा—मैने एक कूप बनवाया है, उस कूप के पुण्य को इसको सद्गति के लिये दान करता हूँ। इस प्रकार एक दूसरे की देखा देखी सभी लोग उस बैल की सद्गति के लिये दान करने लगे।

उस भीड़ में एक वेश्या भी खडी थी। सब लोगों को पुण्य दान करते देख कर उसने कहा—"मैंने तो अपने जीवन में पाप ही पाप किया है, किन्तु अकस्मात् दैवेच्छा से मुझसे कुछ भी

पुण्य कर्म बन गया हो तो उस पुण्य को मैं इस इस बैल निमित्त दान करती हूँ।

अब तक वह बैल साँस ले रहा था, अब उसने अंतिम साँ ली और वह मर गया। मर कर यमराज के न्यायालय में उप स्थित किया गया। इसके पाप पुण्यों पर विचार हुआ। चित्र गुप्त जी ने इसका पुराना चिट्ठा उपस्थित किया। उन्होने बताय इसने पाप तो बहुत किये थे, किन्तु बहुत से लोगों ने इसके निमि बहुत से पुण्यों का दान किया है, उन सब पुण्यों से इसके कुछ पा तो नष्ट हो ही गये। सर्व श्रेष्ठ दान तो एक वेश्या का है, उस के पुण्य प्रभाव से यह सब पापों से विमुक्त हो गया और अब य पुनः पृथ्वी पर ब्राह्मण योनि में जन्म लेगा।"

भगवान् श्री लक्ष्मी जी से कह रहे हैं—"देवि! वही बै भूमि पर आकर एक अत्यन्त उत्तम कुलीन कुल में वेद वेदा ज्ञाता विशुद्ध ब्राह्मण के घर में पैदा हुआ। अब के यह जा स्मर हुआ। इसे अपने पूर्वजन्मों की याद थी। उसे यह स्मरण था कि मै एक वेश्या के दिये हुए पुण्य से पुण्यवान बना हूँ और उस पुण्य के प्रभाव से मैं ऐसे उत्तम कुल मे जन्मा हूँ। अ वह समर्थ होने पर उस वेश्या के समीप गया। और उस बोला—"देवि! आपने एक मरते हुए बैल पर कृपा करके अपन पुण्यदान किया था क्या?"

वेश्या ने कहा—"हाँ, मैंने किया तो था।"

ब्राह्मण ने पूछा—"कौन-सा पुण्यदान किया था?"

वेश्या ने कहा—"पुण्य का तो मुझे स्वयं ही पता नहीं।"

ब्राह्मण ने कहा—"देवि! ऐसी बात मत कहो। वह बैल मैं ही हूँ। उस समय बहुत से लोगों ने मेरे निमित्त पुण्यदान किया था, उसमें आपका पुण्य सर्वोत्कृष्ट माना गया। उसी के प्रभाव से मैं समस्त पापों से विमुक्त होकर साधक जिज्ञासु मुमुक्षु योनि में उत्पन्न हुआ हूँ। बड़े भारी पुण्यों के प्रभाव से ही मनुष्यों के हृदय में दया उत्पन्न होती है। दूसरों के प्रति जो दया के भाव प्रदर्शित करे वह अवश्य ही बहुत पुण्यात्मा प्राणी होगा।"

वेश्या ने कहा—"मैंने तो जीवन में पाप ही पाप किये हैं। कोई बहुत बड़ा पुण्य मैंने इस जन्म में किया हो इसका मुझे स्मरण नहीं। हाँ, मेरा एक तोता है। वह देववाणी में बड़े मधुर स्वर में कुछ बोलता है, उसके शब्द मुझे बहुत ही प्यारे लगते हैं और उन्हीं के श्रवण से मेरा अन्तःकरण शुद्ध होने लगा है, मेरे मन में दया धर्म के भाव जागृत होने लगे हैं।"

वेश्या की यह बात सुन कर वह ब्राह्मण वेश्या को साथ लिये, हुए तोता के पास गया और बोला—"तोता! तुम कौन हो? तुम कौन सा मनोहर स्तोत्र पढ़ते हो, तुम्हें यह स्तोत्र कहाँ से मिला। यदि तुम हमें सुनाने के योग्य समझते हो तो सुना दो।"

तोता ने कहा—"विप्रवर! पूर्व जन्म में मैं भी बड़ा विद्वान् ब्राह्मण था। मुझे वेदशास्त्रों का पूर्ण ज्ञान था। इतना होने पर भी मुझे अपने ज्ञान का बड़ा अभिमान था। समस्त पापों का बीज अभिमान ही है। अभिमान के वशीभूत होकर ही जीव

नाना पापों में प्रवृत्त हो जाता है। मैं भी अपनी विद्वत्ता के मद में मदमत्त होकर विद्वानों का अनादर करने लगा, उनसे इर्ष्याद्वेष रखने लगा। सद्गुरु की भी मैं निन्दा करता और अपने ज्ञान के अभिमान में सदा चूर बना रहता।

कालान्तर में मेरी मृत्यु हुई। अपने पापों के फल भोगने के निमित्त मुझे नाना नरकों में क्लेश सहनी पड़ी और अंत में गुरुओं की निंदा के प्रभाव से इस तोता योनि में आना पड़ा। बाल्यकाल मे ही मुझे जन्म देने वाले मेरे माता-पिता मर गये थे, मैं अनाथ हो गया था, ग्रीष्म ऋतु में पानी न मिलने से मैं अचेत हो गया और एक मार्ग पर पड़ा बिलबिला रहा था।

उसी समय कुछ कृपालु मुनि उधर से निकल रहे थे, उनको मेरी दयनीय दशा पर दया आई, वे मुझे कृपा करके अपने आश्रम पर उठा ले गये। मुझे पानी पिला कर सचेत किया। मुनियों के समीप पढ़ने वाले विद्यार्थियों ने मुझे कुतूहल वश एक पिंजड़े में बंद कर दिया। वहाँ वे मुझे दाना पानी देने लगे। वे सब विद्यार्थी गीता पढ़ते थे। पहिले अध्याय को वे कंठस्थ करते और मुझे भी कराते। विद्यार्थी जैसे बोलते थे, वैसे ही मै भी सुस्पष्ट शब्दों में गीता के प्रथम अध्याय का पूरा पाठ करने लगा। आश्रमवासी पाठ से अत्यन्त प्रभावित थे। मै बहुत ही मधुर कंठ से पाठ करता था। एकदिन दैवयोग से एक बहेलिया वहाँ आ गया। वह पक्षियों को पकड़ कर उन्हें बेचा करता था। मेरे मुख से जब उसने शुद्ध-शुद्ध सुस्पष्ट शब्दों

में श्लोक सुने तो वह अत्यन्त ही प्रभावित हुआ। उसने सोचा यदि यह तोता मुझे मिल जाय, तो मै उसका बहुत मूल्य पाऊँ। "किन्तु मुनियों के ब्रह्मचारी इसे स्वेच्छा से देने को तैयार न होंगे, यही सोच कर वह रात्रि में मुझे चुरा ले आया। इस वेश्या ने जब मुझे मधुर स्वर में श्लोक बोलते देखा, तो भारी मूल्य देकर खरीद लिया। मै गीता का प्रथम अध्याय का पाठ करता हूँ, इसी से इस वेश्या की बुद्धि शुद्ध हुई है और मैं भी जाति स्मर हुआ हूँ। यह सुनकर ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसी दिन से वह गीता का श्रद्धा भक्ति के साथ श्लोकार्थ को समझकर पाठ करने लगा। गीता के प्रथम अध्याय के प्रभाव से वेश्या का अन्तःकरण शुद्ध हो गया, और तोता भी गीता के प्रभाव से भवबंधन से छूट गया।"

सूत जी कहते है—"मुनियो ! यह मैंने गीता के प्रथम अध्याय के श्रवण का आप लोगों को महात्म्य सुनाया। ऐसे ही अठारहों अध्याय का मै तुम से क्रम-क्रम से वर्णन करूँगा। आशा है इसे आप दत्तचित्त होकर श्रद्धा भक्ति के सहित श्रवण करेंगे और साथ ही गीता का मनन स्वाध्याय और पाठ करे। अब अगले अध्याय का माहात्म्य अगले खंड में वर्णन करेंगे।

छप्पय

गीता को इश्लोक एक आधो चौथाई।
पढ़ें प्रेम तैं पुरुष मुक्ति तिनिकी ह्वै जाई॥
विप्र सुशर्मा बैल भयो निज पापनि कारन।
वेश्या पुन्य प्रभाव तर्‌यो तोता उच्चारन॥
तोता बोल्यो प्रथम द्विज, शुक जनम्यो अभिमान वश।
गीता इक अध्याय पढ़ि, तरे विप्र वेश्या सुयश॥

कृष्ण कृपा की कोर

[१]

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ *

(श्री भ० गी० २ अ० १,२ श्लो०)

छप्पय

संजय कहिबे लगे—नृपति ! सुनु भगवत गीता ।
भई भूमिका पूर्ण सुनत छूटत भव भीता ॥
अरजुन कूँ हरि लख्यो घिर्यो ममतातें व्याकुल ।
नयन बहत जलधार शोकयुत अति ई आकुल ॥
करुनासागर दयामय, बने सारथी अरु सगे ।
मंद-मंद मुसकाइ यों, अरजुन तें कहिबे लगे ॥

जीव के पास क्या है, अहंता और ममता । मैं ऐसा हूँ वैसा हूँ ।

---

* संजय कहने लगे—राजन् ! अर्जुन को जब इस प्रकार करुणा से व्याप्त अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रों से युक्त, शोक संविग्न भगवान् मधुसूदन ने

मेरे समान कौन है, मैं इस काम में हाथ न लगाता तो यह पूरा थोड़े ही होता। यह घर मेरा है, यह बाग बगीचा मेरा है, यह धन मेरा है, यह मेरा परिवार है, श्रौर चाहें जैसे रहें मैं और मेरा परिवार सुखी रहे। यह जीव धर्म है। ईश ज्ञान स्वरूप हैं, हैं। उनके यहाँ भक्ति का भंडार है। ज्ञान वैराग्य की निधि है। जीव का धर्म है विषाद करना। अंधकार में रोते रहना ईश का स्वरूप है आनंद में निमग्न रहना प्रकाश में सदा सर्वदा हँसते रहना। रेशम का कीड़ा अपने ही मुख से तो सूत निकालता है और ममतावश अपने ही आप ताना पूरकर फँस जाता है। ज्ञान होने पर वे सब तार टूट जाते है। वह उस जाल से निक भागता है। जिनके तार नहीं टूट सकते वे चौरासी की भट्टी में भूने जाते हैं पुनः पुनः जन्म लेते रहते हैं, पुनः पुनः मरते रहते हैं। जीव जब ईश की शरण में जाता है, तब उसके बन्धन टूट जाते हैं, जाल छिन्न भिन्न हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने सर्वथा जूआ डाल ही दिया। वह आगे बढने को युद्ध करने को उद्यत ही न हुआ धनुष बाण डालकर शोक संविग्न चित्त से हथेली पर कपोल रख कर शोक की मुद्रा में बैठ गया तब उससे मधु नामक अत्याचार राक्षस को मारने वाले मधुसूदन यों कहने लगे—अरे भैया अर्जुन यह क्या? भैया समय की रागिनी ही शोभा देती है। असमय के राग में रस नहीं आता। यद्यपि "राम नाम सत्य है, सत्य

देखा, तो उससे यह बचन बोले। भगवान् ने कहा—अर्जुन! असमय में तुझे यह मोह किस कारण से हुआ? क्योंकि ऐसा मोह न तो स्वर्ग को देने वाला है और न कीर्तिकर ही है यह तो अनार्यों द्वारा आचरित है।

बोले गति है" ये वाक्य सर्वदा सत्य हैं, उपदेशात्मक हैं, अच्छे हैं, वैराग्यप्रद हैं। इनमें ज्ञान वैराग्य के भाव निहित हैं, फिर भी आप विवाह के समय इन्हें बोल दें तो सभी बुरा मानेंगे। कारण यह कि इनका उच्चारण शव यात्रा के समय किया जाता है, वर यात्रा के समय यह कटु सत्य होने पर भी असामयिक है। अशुभ समझा जाता है। तुम किसी विवाह के समय कुल भोज के समय ऐसी पारिवारिक ममता प्रकट करते। तुम्हारे पुत्रों का विवाह होता और दुर्योधनादि द्वेषवश उसमे न आते, तो तुम जाकर उनके पैर पकड लेते कहते अरे भैया हम लोग भाई भाई हैं। यो राग द्वेष तो होता ही रहता है। दुख सुख में हम सब भाई एक हैं। तुम्हारे दुख में हम आवेंगे, हमारे दुख में तुम आओ। तुम्हारे विवाह उत्सवों में हम सम्मिलित होंगे, हमारे में तुम्हें चलना पड़ेगा। सोचो तो सही, तुम्हारे बिना यह कार्य सम्पन्न कैसे हो सकता है।"

उस समय ऐसी ममता दिखाना-अपनापन प्रकट करना उचित था सामयिक था। अब इस समय रणभूमि में जब दोनों दल सुसज्जित होकर युद्ध करने के लिए उद्यत हैं, उस समय ये मेरे स्वजन हैं, सम्बन्धी हैं, भाई हैं भतीजे हैं। इन्हें न मारूँगा, इन पर बाण न छोड़ूँगा ये बातें कहना उचित नहीं। असामयिक है। यह भैया प्रेम नहीं मोह है। यह तो कर्तव्य पालन करने में प्रमाद है। यह तुम जैसे सद्कुल में उत्पन्न कुलीन शूरवीर को शोभा नहीं देता।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! सत्य बात का जब भी ज्ञान हो जाय, तब ही उसे मान लेना चाहिये। पाप का जब भी बोध हो जाय, तभी उसका परित्याग कर देना चाहिये। पहिले हम राज्य प्राप्ति की आकांक्षा में इस सत्य को भूल गये थे; कि तुच्छ

राज्य के निमित्त हमें अपने सगे सम्बन्धियों का वध करना पड़ेगा। तब हम इन्हें शत्रु की हो दृष्टि से देखते थे। आज जब मेरी दृष्टि विशाल हुई है; तब मुझे इस तथ्य का साक्षात्कार हुआ। तब यथार्थ ज्ञान हुआ कि ये लड़ने वाले तो सगे भाई हैं राज्य की और स्वजन रक्षा की जब मैंने तुलना की तो स्वजन रक्षा का पलड़ा भारी हो गया। इसीलिये मैं युद्ध से पराङ्मुख हो गया।

भगवान् ने कहा—अरे, जिसे तू ज्ञान समझ रहा है, वह अज्ञान है, जिसे तो स्वजन स्नेह कर रहा है, वह मोह है। जिसे तू आर्य धर्म कह रहा है, वह अनार्य धर्म है।

अर्जुन ने पूछा—अनार्य धर्म क्या भगवन्!

भगवान् बोले—अशौच, अनृत; चोरी करना, नास्तिकता, शुष्क वैर, काम, क्रोध और तृष्णा के वशीभूत होना, यह अनार्यों के लक्षण हैं। इन सब की पूरी व्याख्या तो मैं न करूँगा किन्तु इतना ही कहूँगा, कि यह मोह ममता तुम्हारी अज्ञान जनित है। तुम क्षत्रिय धर्म से च्युत हो रहे हो, अपनी प्रतिज्ञा का पालन ममता वश नहीं कर रहे हो। इससे होगा क्या? सब लोग तुम्हें डरपोक समझेंगे। कहेंगे—अर्जुन युद्ध से भयभीत होकर प्राणों के लोभ से भाग गया।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! मुझे प्राणों का लोभ नहीं है।

भगवान् बोले - अरे, बाबा! है क्यों नहीं। अपने प्राणों का लोभ न भी सही, किन्तु कुटुम्बियों के प्राणों का तो लोभ है। मोह न भी हो ममता तो है ही। इस ममता का परिणाम क्या होगा जानते हो?

अर्जुन ने कहा—हाँ बताइये!

भगवान् बोले—अरे भैया! यह स्वर्ग के मार्ग को अवरोध

करने वाले भाव है। सीधा नरक का मार्ग है। देखो, संसार में पुण्य कर्म करने वालों का जब तक पृथ्वी पर नाम रहता है। तब तक वह स्वर्ग में रहता है। कीर्ति ही स्वर्ग को ले जाने वाली है, अकीर्ति ही नरक के द्वार को खोल देती है। युद्ध से हटने पर सर्वत्र तुम्हारी अकीर्ति फैल जायगी। इस लोक में भी लोग तुम्हें धिक्कारेंगे छी: छी: करेंगे और परलोक भी बिगड़ जायगा। स्वर्ग से भी वंचित हो जाओगे। युद्ध से पराड्मुख होने पर ये कौरव तुम्हें राज्य तो देंगे नही। सम्पत्ति से वंचित हो जाओगे अर्थ न रहने पर धर्म कार्य भी नहीं कर सकते कामों से--इन्द्रिय भोगों से भी वंचित हो जाओगे। जब धर्माचरण न करोगे, तो मोक्ष के मार्ग को भी कैसे ग्रहण कर सकते हो अतः इस कायरता से तुम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय से वंचित बन जाओगे। इसलिये तुम जिसे त्याग समझ रहे हो, वह कायरता है, जिसे तुम प्रेम समझ रहे हो वह मोह है। जिसे तुम दया समझ रहे हो वह कृपा है करुणा है, यह सम्बन्धजनित मोह है। जिसे ज्ञान समझ रहे हो वह अज्ञान है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! तब मैं क्या करूँ? मेरा मन तो छोटा छोटा हो गया है। मुझे तो स्वजन वध में हिचकिचाहट हो रही है।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! इसके उत्तर में भगवान् जो वीरता के वाक्य कहेंगे, अर्जुन को जैसे प्रोत्साहन देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा, भगवान् के वचनों पर फिर अर्जुन अपनी विवशता बतायेंगे वह इससे भी आगे वर्णन किया जायगा।

छप्पय

बोले श्री भगवान-अरे, अरजुन का भाई।
असमय ममता मोह बुद्धि तेरी बौराई॥
शोक समय यह नाहिँ युद्ध को समय सुहावन।
वारनि उठत उमग करै कायरता तजि रन॥
आरज सम्मत पथ न यह, अवरोधक है स्वरग को।
अपकीरतिकारक कुपथ, बाधक अति अपवरग को॥

पार्थ ! नपुंसकता छोड़ो ।

[२]

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥*

(श्रीम० भ० गी० २ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

पारथ होओ ठड़े नपुंसकता कूँ त्यागो ।
क्षत्रिय ह्वैकें बन्धु अरे, तुम रनतैं भागो ॥
उचित न तुमकूँ बीर समर विजयी रन प्यारे ।
जिनि सुर जाति न सके असुर तिनि तुम संहारे ॥
हियकी दुरबलता तजो, कटि बाँधो होओ ठड़े ।
बाँधि समर में शस्त्र सब, शत्रु हँसत सम्मुख खड़े ॥

उस समय हम लोग अत्यधिक धर्म सकट में पड़ जाते हैं, जिस समय हमारी अपनी स्वतः इच्छा तो किसी काम को करने

---

* भगवान् कह रहे हैं "हे पार्थ ! इसलिये अब नपुंसकता को प्राप्त न हो। तुम में ऐसी कायरता होनी तुम्हारे स्वरूपानुरूप नहीं है क्षुद्रता और हृदय की दुर्बलता को त्यागकर हे परन्तप ! उठ कर खड़े हो

को नही होतो, किन्तु हमारे हितैषी गुरुजन शुभचिंतक उसी काम को करने को बहुत अधिक आग्रह करते हैं, अत्यधिक बल देते हैं। हम उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन भी नहीं कर सकते और बिना शंका का समाधान हुए उस कार्य को इच्छा के विरुद्ध करना भी नही चाहते। ऐसी दशा में हम दीन होकर उनके ही सम्मुख अपनी अकाट्य युक्तियों को रखना चाहते है। बड़े लोग हमारी तर्कों को सुनते हैं और उस बिना नींव की बालू की बनी भीत को अपनी युक्तियों द्वारा हँसते-हँसते ही ढहा देते है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन के विषाद को, मोहममता कातरता तथा कायरता को भगाने के निमित्त उसकी वीरता की प्रशंसा करते हुए उसे युद्ध करने के लिये प्रोत्साहित करते हुए कहने लगे। भगवान् तो भगवान् ही ठहरे वे समस्त प्राणियों के उत्पत्ति, विनाश, भावी सम्पत्ति विपत्ति और उनके ज्ञान तथा अज्ञान को जानने वाले है, उनमें ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष ये ६ पूर्णभाव से समग्ररूप से रहते है। उनसे कोई बात छिपी तो है नही। वे जानते हैं, युद्ध होगा अवश्य होगा। अर्जुन द्वारा ये सब मारे जायँगे। अतः अर्जुन जो कुछ काल के लिये हतोत्साह हो गया है, उसमें उत्साह भरने के निमित्त कहने लगे—"हे पार्थ! बहुत दिन भी नही हुए, अभी थोड़े ही दिन पूर्व मैं धर्मराज का दूत बन कर हस्तिनापुर गया था। जब कौरवों ने मेरी बात नहीं मानी, तो मैं बूआ कुन्ती के पास गया था और उससे मैंने कहा—बूआ जी अपने पुत्रों के लिये तुम क्या संदेश देती हो।"

जाओ। तब अर्जुन कहने लगे—हे मधुसूदन! रण मे भीष्म पितामह तथा आचार्य द्रोण को जो दोनों ही पूजा करने योग्य हैं, हे अरिसूदन आप ही बतावें इनके विरुद्ध मैं कैसे लड़ सकूँगा।

इस पर वे मुझे समझाती रहीं। उन्होंने मुझे महारानी विदुला और सञ्जय का संवाद सुनाया था। तुम्हारी ही भांति सञ्जय भी अपने शत्रुओं से भयभीत होकर युद्ध से भाग कर घर में चुपचाप सो रहा था। माता ने अनेक वीरता की बातें कह कह कर उसे प्रोत्साहित किया और उसको भाँति-भाँति से समझा बुझाकर युद्ध भूमि में भेजा और वह विजयी हुआ। बूआ कुन्ती ने मुझसे यह भी कहा था, कि जब अर्जुन मेरे गर्भ में था, तब मुझे आकाशवाणी हुई थी, कि तेरा यह वीर पुत्र संसार में सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी होगा, यह अपने शत्रुओं को परास्त करके सम्राट् बनेगा। माता ने तो बहुत सी बातें कहीं थीं वे सब मैंने तुम से आकर नहीं कहीं। तुम उसी वीरमाता पृथा के परंतप पुण्यवान् पुत्र हो। परंतप इसीलिये तुम्हारा नाम है, कि तुम शत्रुओं को सदा सर्वदा संताप ही पहुँचाते रहते हो। आज परंतप होकर भी तुम शत्रुओं को रुलाकर नहीं हँसाकर अपनी हँसी करा रहे हो, यह तुम्हारे स्वरूपानुरूप नहीं है। ऐसी नपुंसकता-क्लीवता तुम्हारे योग्य नहीं है। यह तो तुम दुर्बलता दिखा रहे हो, शत्रुओं को खिल्लियाँ उड़ाने का अवसर दे रहे हो, यह तो तुम्हारी कायरता है, हृदय की दुर्बलता है। इस प्रकार भयभीत होकर कायरों की भाँति बैठ जाना, भैंसे की भाँति पाप-पंक में पड़ जाना, युद्ध से पराङ्मुख होना, उचित नहीं। शत्रुओं के सिर पर पैर रखकर युद्ध में विजय श्री का वरण करो।

इस पर अत्यंत स्वच्छता और सरलता के साथ, जिज्ञासु भाव से अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन ! आप बारबार शत्रु शब्द का प्रयोग कर रहे हो। अरियों को मारने की बात कह रहे हो। यह आपके स्वरूपानुरूप ही है। आप सदा सर्वदा अपने

अरियों को मारते ही रहते हो। इसीलिये आपका का नाम अरिसूदन है। आप मधु आदि दैत्यों का भी संहार करते रहते हो इसीलिये आपको दैत्यनिकंदन तथा मधुसूदन भी कहते हैं। परन्तु हे मेरे माधव! तुम पहिले मुझे यह तो बताओ यहाँ शत्रु है कौन? कोई दैत्य भी हो तो उसे मारूँ। मैंने निवातकवचादि दैत्यों को बिना किसी आपत्ति के मार ही डाला था। जो भी शत्रु युद्ध में मेरे सम्मुख आया उसे मैंने सदा पछाड़ा ही है। किन्तु हे अरिसूदन! मुझे सम्मुख शत्रु तो बतादो, जिनका संहार करूँ। हे मेरे माधव! एक भी तो शत्रु दिखादो।"

भगवान् ने कौरव सेना की ओर संकेत करते हुए कहा—"सम्मुख ये सबके सब शत्रु ही तो समुपस्थित हैं।'

अर्जुन ने कहा—श्यामसुन्दर! ऐसा मत कहो। सम्मुख तो मेरे ये भीष्म द्रोण आदि गुरुजन खड़े हैं। जिनके लिये शास्त्रकारों ने कहा, कि गुरु को जो 'हुं' अथवा तू ऐसे हलके शब्द कह देता है अथवा ब्राह्मण को वादविवाद में जीत लेता है, तो वह स्मशान का वृक्ष बनता है जिस पर कंक और गृद्धादि बैठते हैं।"

जब वाद विवाद में जीत लेने पर केवल हलकी वाणी बोलने पर इतना पाप बताया है, तो आप तो मुझसे अस्त्र शास्त्रों द्वारा लड़ने को कहते हैं। जिन को पूजा सदा मैं सुगंधित सुमनों से किया करता था, जिनके पादपद्मों में श्रद्धा- भक्ति के साथ पुष्प चढाया करता था। उनसे आप वाणों द्वारा लड़ने को कह रहे हैं। स्वामिन! शत्रुओं से मुझे चाहें जितना लड़ा लो। विपक्षियों के ऊपर चाहें जितने वाण छुड़वालो वाणों को घनघोर वर्षा करालो, किन्तु हे मेरे प्राणों से भी प्यारे माधव! इन गुरुजनों के विरोध में शस्त्र उठाने की बात मुख से भी न निकालिये। इनसे लड़ने के लिये मुझे प्रोत्साहित

न कीजिये। ये गुरु जन लड़ने योग्य नहीं है पूजा के पात्र हैं। इनके लिये तो यही आज्ञा दें कि सुन्दर-सुन्दर तत्काल के तोड़े सुगंधित पुष्पों के बड़े-बड़े बहुमूल्य हार लाकर इनके कंठों में पहिना दें। मालाओं से इनके वक्षःस्थल को भर दें। पुष्पों से इन्हें ढांप दें। ये बातें तो इनके योग्य है। इसके तो ये पात्र है।

शत्रुओं से लड़ने से मैं घबराता नहीं हूँ, किन्तु गुरुजनों को मारना नहीं चाहता। स्वजनों का वध मेरे वश की बात नहीं है। अतः मुझे गुरुओं के वध के लिये प्रेरित न करें।

भगवान् कहा—अरे, अज्ञानी ! इन विपक्षियों को मारेगा नहीं तो खायगा क्या ? क्षत्रिय का धर्म तो युद्ध के द्वारा ही—अपने पौरुष से ही आजीविका प्राप्त करना बताया है।

सूत जी कहते हैं मुनियो ! इसका उत्तर जो अर्जुन देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

अरजुन कहिबे लगे—तनिक सोचो मधुसूदन।
रन हौं कैसे करूँ धरम संकट अति भीषन॥
बाबा कहिं कहिं अंक बैठि जिनि मूँछ उखारूँ।
सोचो मनमें आपु तिन्हें रनमें कस मारूँ॥
द्रोण भीष्म गुरुजन उभय, पूजूँ जिनिपद सुमनधरि।
तिनिकूँ तीखे बान तैं, मारूँ कैसे क्रोध करि॥

—:o:—

गुरुओं का वध कैसे करूँ ?

[३]

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

(श्रीम० भ० गी० २अ० ५, ६ श्लो०

छप्पय

अन्तरजामी आपु मरम धरमनि को जानें ॥
गुरुवर महानुभाव रक्ततें कर कस सानें ।
इनकूँ मारे बिना भीख को टुकड़ा उत्तम ॥
भरिवे पापी पेट न गुरुवध वर पुरुषोत्तम ।
करि हत्या गुरुजननि की, रुधिर सने ये भोग सब ।
अर्थ काम इन्द्रिय सुखद, भोगें वा सुख मिलै तब ॥

❀ अर्जुन कह रहे हैं—भगवन् ! महानुभाव गुरुओं को न मार कर

मनुष्य सत्य बात पर दृढ़ रहता है, अन्त तक अड़ा रहता है, किन्तु लोभ मोह अथवा कामके वशीभूत होकर अज्ञानवश स्वार्थ को सत्य का परिधान पहिना कर उसके लिये अड़ जाते हैं, तो समझाने बुझाने पर यदि हठधर्मी न हुए तो हमारा आग्रह ढीला पड़ जाता है। जैसे कोई परपुरुष से परस्त्री अथवा परस्त्री से परपुरुष अनुचित अवैध प्रस्ताव करता है। यदि दोनों अपने सत्य धर्म पर पातिव्रत या पत्नीव्रत पर सुदृढ हैं, तो उन्हें कोई अपने संकल्प से डिगा नहीं सकेगा, किन्तु भीतर ही-भीतर लोभ या काम की वासना छिपी हुई है, तो ऊपर कितना भी ना ना करो अंत में ढीलापन आ ही जाता है। जहाँ द्विविधा हुई यह करूं या न करूं। यह करना उचित होगा या अनुचित तभी समझो भीतर की निर्बलता बोल रही है। उस समय अपने गुरुजन जो कहे वही करना चाहिये। उन्हीं की शरण में जाना चाहिये यह ठीक है या नहीं। यह दुविधा ही निर्बलता की द्योतक है। इस विषय में एक दृष्टान्त है। उत्तर काशी में पहिले बहुत से साधु रहते थे। वहाँ पहाड़ियों पर भूत प्रेतों का आवेश आता है, उसी आवेश में जो कोई पूछता है उसका उत्तर उस व्यक्ति

इस लोक में भिक्षा के अन्न पर भी निर्वाह करना श्रेयस्कर समझता हूँ, आप सोचें-गुरुजनो का वध कर के मां लोक में हमे रक्त से सने हुए अर्थ और काम रूपी विविध भोगो का उपभोग ही तो हमे मिलेगा। फिर हम यह भी तो जानते नही कि हमारे लिये युद्ध करना श्रेष्ठ है अथवा न करना। और यह भी नही जानते कि उनके द्वारा हम जीते जायेंगे या वे हमें जीत लेंगे। जिन्हें मारकर हम जीने की भी इच्छा नही रखते, वे ही हमारे ताऊ के लड़के कौरव हमारे सम्मुख युद्धार्थ खड़े हुए हैं।

के माध्यम से प्रेत देता है। एक बार एक व्यक्ति पर भूतावेश आया। उससे सभी आदमी अपनी-अपनी बातें पूछ रहे थे। प्रेत उनका उत्तर दे रहा था। वहीं पर एक साधु रहता था, वह अपने को पूर्ण ज्ञान निष्ठ स्थितप्रज्ञ मानता था। सबसे यही कहता मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया है। उसने उस प्रेत से भी पूछा—अच्छा बताओ मै पूर्ण ज्ञानी हूँ या नहीं।

प्रेत ने उत्तर दिया—अभी तुम्हें पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ।

उसने पूछा—क्यों? मुझमें क्या त्रुटि है?"

प्रेत ने कहा—तुम्हें संदेह है कि मैं ज्ञानी हूँ या नहीं। उसी संदेह के कारण पूछ रहे हो। जिसे संदेह है वह पूर्ण ज्ञानी कैसे हो सकता है? सो यह ठीक है या नहीं। यह करूँ या न करूँ। यह मोह जनित द्विविधा है। यह द्विविधा सत्गुरु की शरण जाने से छूट सकती है।

सूतजी कह रहें हैं—मुनियो! जब भगवान् ने क्षत्रिय धर्म का स्मरण कराते हुए अर्जुन से पूछा—कि यदि युद्ध में शत्रुओं को न मारोगे तो तुम्हें राज्य कैसे मिलेगा? राज्य न मिला तो निर्वाह कैसे करोगे? क्या खाओगे।

-- इसका उत्तर देते हुए अर्जुन कह रहे है—भगवन्! इस समय हमारे सामने दो ही विकल्प हैं। (१) एक तो यह कि जिन स्वजनों ने हमारे राजपाट, धन सम्पत्ति को दवा रखा है, उन्हें मारकर राज्य प्राप्त कर लें। अथवा (२) दूसरा यह कि राज्य पाट तथा धन सम्पत्ति की ममता छोड कर वनों में वास करते हुए भिक्षान्न से निर्वाह करते हुए जीवन के शेष दिनों को विता दें दोनों ही वातों पर गंभीरता पूर्वक विचार करना पड़ेगा।

यदि हम स्वजनों को मारकर राज्य लें तो वह राज उनके रक्त से सना हुआ होगा। वे प्राण रहते तो राज्य छोड़ने वाले

हैं नहीं। उनके प्राणों का अन्त करके ही राज्य प्राप्त हो सकेगा। उस प्राप्त राज्य तथा धन से हम काम रूप भोगों को ही तो भोगेंगे। उन भोगों में हमें कौरवों का रक्त मिला हुआ दिखाई देगा-तब ये भोग हमें सुखप्रद प्रतीत न होकर दुखदायी ही लगेंगे।

दूसरा पक्ष यह है, कि दुर्योधन जैसे अब तक राज्य सुख भोगता रहा है, उसी प्रकार आगे भी अपने भाइयों सहित सम्पूर्ण वसुन्धरा के राज्य का सुख भोगता रहे। हम लोग जैसे अब तक लाक्षागृह से भागकर जैसे भिक्षान्न पर निर्वाह करते रहें, वैसे ही भिक्षा माँग कर जीवन निर्वाह करें। इस अल्प जीवन के लिये क्यों पाप बटोरें, क्यों अपने सगे भाइयों के रक्त से अपने हाथों को रंगे।

मुझे तो इन दोनों पक्षों में से दूसरा ही पक्ष श्रेष्ठतम प्रतीत होता है। इससे कुल नाश तो न होगा। हम भले ही क्लेश भोगते रहें। फिर क्लेश तो मन के माने के होते हैं। स्वजनों को मार कर यदि हम राजा भी बन जायं तो जीवन भर कुल क्षय दोष का पछितावा बना रहेगा। इससे वह सुख दुःख रूप ही प्रतीत होगा। इसके विपरीत हम बिना किसी का बध किये राज्य के लोभ को स्वेच्छा से त्याग दें। तो मन में जो त्याग जनित संतोष होगा वह लाख राज्यों से बढ़ कर सुख प्रद है।

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े। और बोले—क्या यह तुम्हारा निश्चित मत है, कि युद्ध नहीं करना चाहिये। क्या तुम यथार्थ में अब झोली बनाकर घर घर से भिक्षा माँग कर उसी पर निर्वाह करने को उद्यत हो ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भगवान् ने ऐसी शंका व्यक्त की। तब तो अर्जुन संकट में पड़ गये। उनके निश्चय में कुछ

शिथिलता आ गयी। भगवान् के प्रति उनके मन में स्नेह उत्पन्न हो गया। अतः वे कहने लगे – भगवन्! मैंने तो अपने जीवन नौका को आप को सौंप दिया है, उसे आप चाहे जिधर ले जावें मैंने तो अपने जीवन रथ के इन्द्रिय रूपी घोड़ों की रस्सियाँ हाथों में थमा दी हैं, आप उन्हें जिधर चाहें घुमा दें। मैं स्वयं यह भी निर्णय करने में असमर्थ हूँ, कि मुझे युद्ध करना या नहीं। युद्ध करना श्रेष्ठ है, अथवा युद्ध न करना उत्तम है इसका मैं स्वयं विचार करके किसी पक्ष को स्थिर नहीं सकता।

रही जय पराजय की बात सो यह तो समय ही बतावेगा कि जीत हमारी होगी या उनकी। गर्भवती के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कोई नहीं कह सकता कि छोरा होगा या छोरी लड़का होगा अथवा लड़की। जय पराजय ईश अधीन है। एक बात के कारण मैं आशान्वित हूँ। वह यह है कि आप स्वयं साक्षात् जगत्पति होकर मेरे रथ को हाँक रहे हैं। जिस पक्ष में आप हैं उस पक्ष की मान लो विजय हो भी जाय, तो वह विजय किस काम की। जिन अपने सगे ताऊ के पुत्र दुर्योधनादि स्वजनों को मारकर हम जीना नहीं चाहते, वे ही हमारे कुल के बन्धु शत्रु भाव से हमसे लड़ने को उद्यत है। अतः मेरी बुद्धि कर्त्तव्या कर्त्तव्य के सम्बन्ध में भ्रम में पड़ गयी है। किस काम को करना चाहिये, किस काम का परित्याग कर देना चाहिये। इस विषय में मैं कर्तव्य विमूढ़ बन गया हूँ। मैं निश्चयात्मक बुद्धि से दृढ़ता के साथ यह नहीं कह सकता कि मैं युद्ध न करूँगा, और अधिकारी रूप में दृढ़ता के साथ यह निर्णय करने में भी असमर्थ हूँ कि युद्ध करूँगा ही। अब इस विषय में आप ही प्रमाण हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इतना कहकर अर्जुन कातरभा

से भगवान् के श्रीमुख को निहारने लगे। इससे भगवान् को बड़ा हर्ष हुआ कि यह सर्वात्म भाव से मेरी शरण होगा। अब अर्जुन जैसे भगवत् प्रपन्न होंगे उस विषय को तनिक सुस्ताकर आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

जिह हू जानत नाहिँ करें रन नहीं करें वा।
दोउनि में का उचित हमहिँ मारे न मरें वा॥
हम ही विजयी होहिँ यही ध्रुव निश्चय नाहीं।
वे ही जीतें हमें समर जूआ के माहीँ॥
जिनि बधि जीवो नहिँ चहत, स्वजन सबहिँ छोटे बड़े।
ते ताऊ धृतराष्ट्र सुत, समर करन सम्मुख खड़े॥

अर्जुन की प्रपत्ति

[४]

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वांप्रपन्नं ॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

(श्री म० भ० गीता २ अ० ७,८ श्लो०)

छप्पय

हौं कायरता दोप हेतु उपहत स्वभाव तैं।
अति ई मोहित चित्त धरम विषयक सुभाव तैं।
तुमतैं पूछूँ प्रभो! पुन्यपथ सरल सुभावैं।
होवै जातैं श्रेय सरस सुठि गैल बतावैं॥
प्रभुपद पदुमनि महँ पर्‌यो, शिष्य भक्त अनुदास हूँ।
सुठि शिक्षा देवैं दयित, शरणागत पद-पास हूँ॥

🟉 अर्जुन कह रहे हैं भगवन्! कृपणता दोष से मेरा स्वभाव उपहत हो गया है, धर्म के विषय में भी मैं संमूढ़ चित्त वाला बन गया हूँ। इसी-

संसार में शरणागति ही एक ऐसी वस्तु है, जिसके द्वारा मनुष्य निस्संशय, निश्चिन्त तथा निर्भय बन जाता है। संसार के तुम अनुकूल भोग्य पदार्थों को पाकर ऊपर से प्रसन्न से भले ही दिखायी दो, किन्तु आप के हृदय में एक चारे बना ही रहेगा, एक संशय आप के हृदय को कचोटती रहेगी। आप भले ही ऊपर से सुखी दीख पड़ें किन्तु एक चिन्ता भीतर ही भीतर आप को जलाती रहेगी, आप भले ही अपने बल पौरुष तथा साहस का प्रदर्शन करते रहें, एक चिन्ता आपके अन्तःकरण में व्याप्त ही रहेगी जो आपको सुख से बैठने न देगी। किन्तु यदि आप ने किसी समर्थ की शरण ले ली है किसी पूर्ण प्रभु के प्रपन्न हो गये हो, किसी को आपने आत्म समर्पण कर दिया है सत् गुरु के चरणों में अपना सब कुछ सौंप दिया है, अपनी नौका का पतवार किसी समर्थ के हाथों में दे दिया है, तो आप निर्भय हो जायँगे। आप का शोक मोह सब नष्ट हो जायगा आप अपने यथार्थ स्वरूप को जो विस्मरण के गर्त में डाल चुके थे अब फिर से आप को स्मृति प्राप्त हो जायगी। गुरु प्रसाद से आप उठ कर खड़े हो जाओगे और फिर मनमानी घर जानी न करके गुरु की आज्ञा का अक्षरशः पालन करने में समर्थ हो सकोगे। अपने कर्तापने के अभिमान को भूलकर यन्त्रवत् बन जाओगे। कठ पुतली की भाँति सूत्रधार जैसा भी नाच नचाना चाहेंगे वैसा

लिये मैं आप से पूछता हूँ, जो भी मेरे लिये हितकर हो उसे मुझे निश्चित रूप से बता दें, मैं आप का शिष्य हूँ, आप मुझे शिक्षा दें, मैं शरणागत प्रपन्न भक्त हूँ। प्रभो! जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर करे उस उपाय को मैं पृथ्वी पर धनधान्य सम्पन्न निष्कंटक राज्य को पाकर तथा इन्द्रपद पाकर भी नहीं देख रहा हूँ।

झी नाच नाचने लगोगे। जहाँ बिठावेंगे वहीं बैठ जाओगे जो खाने को दे देंगे उसी को खाकर सुखी रहोगे, जो पहिनने को देंगे उसे पहिन कर प्रमुदित रहोगे। उसकी इच्छा में तुम अपनी इच्छा मिला दोगे। जब तुम्हारा पृथक् अस्तित्व ही न रहेगा, तो शोक मोह, काम, क्रोध, चिन्ता, आसक्ति, संदेह तथा अन्य इन्द्रिय शोषक वृत्तियाँ आ आकर तुम्हारी शान्ति में विघ्न कैसे डाल सकती हैं, तुम्हे चिंतित दुखी, दुर्बल, संशय ग्रस्त कैसे बना सकती हैं। ये सब दोष तो अपने को कर्ता मानने पर ही क्लेश पहुँचाने वाले दु:ख देने वाले होते हैं। आत्म समर्पण करते ही ये सभी समर्पित हो जाते है। अतः जीवन उसी का धन्य है जो प्रभु की शरण में आ गया, बनवारी का बन गया। प्रभु प्रपन्न हो गया।

सूतजी कहते हैं —मुनियो! जब भगवान् ने अर्जुन का ढीला पड़ते देखा तो उन्हें मन ही मन बड़ा हर्ष हुआ। वे सोचने लगे अब इसमें उतनी मूढ़ ग्राहता नही रही अब यह अपने मोह जनित निश्चय पर दृढ नही रह सकता। अब इसकी स्वजन वध भय रूपी बालू की भीति मे दरारें पड गयी हैं अब यह ढहना ही चाहती हैं कसर इतनी ही है कि अभी तक यह सर्वात्मभाव से प्रपन्न नहीं हुआ। शरणा गति के बिना भ्रमभगता नहीं।

भगवान् यह सोच ही रहे थे तभी तक जैसे लबालब भरे जल के पात्र को तनिक सी ठेस लगने पर वह छलकने लगता है जैसे भरे हुए हृदय को तनिक सहारा मिले-ममता दिखायी दे तो वह फूट पड़ता है हृदय की पीड़ा नयनों द्वारा बहने लगती है उसी प्रकार अर्जुन अब अपनी दीनता को छिपा नहीं सके उनका हृदय भर आया, वह इतना भरा कि अपने में समा नही सका फूट पड़ा। वे भली भाँति खुल पड़े और सर्वात्म भाव से सर्वेश्वर की शरण ग्रहण करली। प्रपन्नों के लिए परिजात बने तोत्रपाणि प्रभु के

प्रपन्न हो गये और विह्वल होकर कहने लगे—स्वामिन् ! मैं अंधा हो गया हूँ, मुझे मोह ममता ने घेर लिया है अज्ञान अंधकार ने मेरे नेत्रों पर आवरण डाल रखा है। मैं निर्णय नहीं कर सकता हूँ, कि यह कुपथ है या सुपथ। यह भी नहीं जानता कि मैं पथ से ही चल रहा हूँ या पथ भ्रष्ट बन गया हूँ।

भगवान् ने कहा —"अरे अब तक तो तू बड़ी डींग हाँक रहा था, शास्त्रों के बड़े-बड़े अकाट्य प्रमाण दे रहा था। अभी-अभी यह क्या हो गया ? क्यों ढीला-सा पड़ गया ?"

अर्जुन ने कहा—स्वमिन् ! अब इस समय मुझे कुछ अनुभव होने लगा कि मैंने जो कृपावश सम्बन्धियों के प्रति पक्षपात किया है, उनको अत्यधिक महत्व दे दिया, यह जीवन में कहीं न कहीं भूल हो गयी है । ऐसा मुझे भान होने लगा है, कि कृपणता, कार्पण्य गुण नहीं है दोष है। उस दोष से मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है, स्वभाव उपहत-नष्ट-हो गया है। पर-भाव या दुर्भाव का प्राबल्य हो गया है। धर्म के विषय में मेरी बुद्धि स्वतः काम नहीं कर रही है। अपने आप निर्णय करने में असमर्थ सी प्रतीत हो रही हैं। मेरा चित्त धर्म के विषय में विमूढ़ बन गया है।

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई ! यह तो बड़ी बुरी बात हुई। बुद्धि ही विभ्रम में पड़ गयी तो फिर निर्णय कैसे करेगा। कौन कर्तव्य है कौन अकर्तव्य है इसे कैसे जानेगा ?"

अर्जुन ने कहा—इसीलिये तो मैं आपसे ही पूछता हूँ आप अच्युत हो, आपको कभी भ्रम नहीं होता। मैं तो श्रेय मार्ग खोज रहा हूँ। श्रेय प्राप्ति के लिये ही युद्ध करने को उद्यत हुआ था।

अब श्रेय में शका उत्पन्न हो गयी। मोहवश सोचने ... के वध से श्रेय कैसे होगा। यह तो प्रेय मार्ग है, इससे तो ... सुख ही प्राप्त होंगे। विषय भोग तो अज्ञानगर्त में ... वाले हैं। अच्छा, क्षत्रिय होकर मैं स्वजन समझ कर ... बन्धुओं को न मारूँ, यज्ञ युद्धभूमि छोड़ कर भाग जाऊँ, ... के अन्न पर निर्वाह करके जीवन यापन करने लगूँ, तो ... हूँ यह क्षत्रिय धर्म के विपरीत तो न होगा। क्षत्रिय का धर्म युद्ध मे शस्त्र लेकर शत्रु भाव से अपने सम्मुख युद्ध करने ... जो भी खड़ा हो जाय, उसी का वध करना उसका धर्म है। सो इन बन्धु रूपी शत्रुओं का वध न करके मैं क्षत्रिय धर्म ... च्युत तो नहीं हो रहा हूँ। जो स्वधर्म से च्युत है उसे श्रेय की प्राप्ति हो ही कैसे सकती है, सो युद्ध करने में श्रेय है या ... करने मे श्रेय है इसका निर्णय करने में स्वतः मैं असमर्थ हूँ। इसीलिये आप ही निश्चत निर्णय करके मुझे बतादें कि ... करूँ या न करूँ?

भगवान् बोले—अरे भैया कैसी बात कर रहे हो, ... तुम्हारा सखा हूँ, सुहृद हूँ, सम्बन्धी हूँ, तथा छोटा काम ... वाला तुम्हारा सारथी हूँ। मैं तुम्हें पूछने पर अपनी निजी सम्मति दे सकता हूँ, उपदेश देने का काम गुरुजनों का है। मित्र अनुशासन नहीं कर सकता वह बल पूर्वक आग्रह से नहीं कह सकता कि तुम्हें यह कार्य करना ही पड़ेगा।

अर्जुन ने कहा—छोड़ो, पुरानी बातों को। मित्रता ... सखापने के व्यवहार को अब मैं तिलांजली दे चुका हूँ। अब मैंने आपका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया है, अब तो मैं आपका ... भक्त बन चुका हूँ। आप प्रपन्न पारिजात हैं। आप मेरी ... पूर्ण कीजिये, मुझे श्रेय का मार्ग सुझाइये, अपने चरणों

दास बनाइये, मुझे सखा भाव से नहीं शिष्य भाव से अपनाइये। सम्मति न देकर उपदेश दीजिये। प्रेरणा न देकर अधिकार के शब्दों में आज्ञा दीजिये कि अर्जुन! तुझे यह ही करना पड़ेगा। तेरा कल्याण इसी कार्य के करने में है।

भगवान् ने कहा— अरे यार, छोड़ो इन गुरु शिष्यों की बातों को। ये सब बातें तो पीछे की हैं, इस समय तो जो सम्मुख है उसे ही करो। युद्ध होने के पश्चात् सोच लेंगे श्रेय का मार्ग कौन सा है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! आप सत्य कह रहे हैं किन्तु मेरे हृदय में तो शोक व्याप्त हो रहा है, इससे इन्द्रियाँ शिथिल बन रही हैं, अन्तःकरण में उत्साह नहीं होता, बिना उत्साह के युद्ध कैसे हो सकेगा। शोक भी साधारण नहीं। यह मेरी समस्त बाह्य तथा अंतः की इन्द्रियों के तथा देह के सह ओज और बल को सुखा रहा है शरीर में बल नहीं, इन्द्रियों में ओज नहीं और अन्तःकरण में साहस नहीं। सब को यह शोख रहा है। इस मेरे शोक को प्रथम दूर कीजिये तब लड़ने की बात करें।

भगवान् ने कहा—देखो, भैया! जब आदमी श्री हीन हो जाता है, तब उसके समस्त सद्गुण विलीन हो जाते हैं। समस्त गुणों की जननी श्री ही है। एक आदमी कल तक श्री सम्पन्न था वह जो भी कार्य करता, उसी की लोग प्रशंसा करते। आज वह श्री हीन निर्धन हो गया। उसका समस्त उत्साह भंग हो गया, अब वह अच्छी भी बात कहता है तो लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। अतः पहिले युद्ध करके राज्य प्राप्त करो, श्री सम्पन्न हो जाओ तब अपने आप शोक रहित बन जाओगे।

अर्जुन ने कहा—प्रभो ! आपका कहना सत्य है पृथिवी पर मनोनुकूल भोग सामाग्रियाँ हों, राज्य में अवर्षण दुर्भिक्ष आदि उत्पात न हों अपना कोई शत्रु कंटक न हो, राज्य धन धान्य से पूर्ण समृद्धशाली हो, तो ऐसे चक्रवर्ती राजा को एक प्रकार का आत्मतोष होता है, उसे शोक नहीं होता, किन्तु हे सर्वेश्वर! मेरा शोक तो ऐसा है कि भूमि के शत्रुहीन समृद्धशाली साम्राज्य की तो बात ही क्या स्वर्ग के देवेन्द्र पद को भी पाकर यह शान्त नहीं होने का। पहिले आप कृपा करके मुझ शरणागत के शोक मोह को नाश कर दीजिये। मुझे सुनिश्चत पुण्य पथ बता दीजिये मेरे निश्चित कर्तव्य का मुझे आदेश दे दीजिये। फिर आप जो भी कहेंगे वही करूँगा। मेरे संशयों का सर्व प्रथम मूलोच्छेदन कर दें। अब तो मैंने आत्मसमर्पण कर ही दिया, अब तो मैं आपका शिष्य बन ही गया। कुलवती कन्या एक ही बार आत्मसमर्पण करती है और उसे जीवन भर निभाती है। उसे आत्मसमर्पण करती है वह उसका भरण पोषण करता है, इसलिये भर्ता कहलाता है, पालन पोषण करने से पति। उसके सर्वस्व का स्वामी होने से स्वामी और प्राणों तक पर अधिकार होने से प्राणनाथ कहा जाता है, यही बात सत् शिष्य के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। पहिले आप मेरी शंका का समाधान कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के प्रपन्न होने पर हँसते हुए भगवान् ने जो भी कुछ कहा, उसका वर्णन मैं आप से आगे कहूँगा। अब आगे से भूमिका न रह कर गीता वार्ता आरम्भ हो जाती है। अब अर्जुन का व्यमोह न रह कर भगवान् का उपदेश प्रारंभ होता है, इसे आप भली भाँति तत्परता तथा सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

केसे होऊँ सुखी गैल नहिँ देइ दिखाई।
निष्कंटक भूराज इन्द्रपद दुरलभ पाई॥
विपुल होहिँ धन धान्य मिलैं सब सुख के साजा।
एक छत्र सम्राट कहैं सब राजनि राजा॥
इतने पै ऊ मोइ प्रभु, सो उपाय दीसत नहीं।
इन्द्रिय शोषक शोक नसि, रहै नहीं संशय कहीं॥

हृषीकेश गुडाकेश से बोले

[५]

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्द मुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥*

(श्री भ० गी० २ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

संजय कहिबे लगे—नृपति यह भूप ! बतायो ।
रनमें चिन्तित पार्थ बन्धुबध तैं घबरायो ॥
बहुतक ज्ञान बघारि परंतप ! चुप्प भये जब ।
नहीं लड़ँगो कही बात यह गुडाकेश तब ॥
हृषीकेश सुनिबो करें, मनमें कौतूहल भय ।
गोविँदँ आयसु देहिँ का, अरजुन मन सोचत रह्यो ॥

* संजय कह रहे हैं—हे परतप ! गुडाकेश अर्जुन ह... श्रीकृष्णचन्द्र जी से ऐसा कह कर और पुनः 'मैं युद्ध नही करूँगा' ... बात को गोविन्द प्रभु से कह कर चुप हो गया । हे भारत ! उस ... करते हुए अर्जुन से दोनो सेनाओ के मध्य में भगवान् हृषीकेश हँसते ह... की भाँति ये वचन कहने लगे ।

जिनसे अपनी अत्यधिक आत्मीयता है, जो हमारा आदर करते हैं, हृदय से हमें मानते हैं। उनसे हम शक्ति भर या तो गूढ़ विषय की बातें ही नहीं करते, यदि कभी प्रसंग आ भी जाता है, तो उनसे उपदेश करने की भाषा दूसरी ही होती है, उसमें एक चुभता हुआ व्यंग-सा रहता है, जिसमें अपनेपन का पुट लगा रहता है। पिता अपने पुत्र से साधारणतया बात भी नहीं करता उसकी कुशल भी नहीं पूछता। पुत्र भी उनके सामने पीठ या पलंग पर बैठा रहता है, कभी प्रातः पैर छू लिये तो छू लिये न छुए न सही। इसके विपरीत पुत्र का मित्र आता है। वहाँ जितनी बार मित्र के पिता को देखता है, खड़े होकर अभिवादन करता है। पिताजी! प्रणाम! पिता भी उससे बड़े स्नेह से कुशल पूछते हैं, इधर-उधर की बातें करते हैं, प्रेम प्रकट करते हैं। पिता पुत्र में प्रेम तो अगाध है, किन्तु उसे व्यक्त नहीं करते। बातें भी करनी होंगी, तो किसी दूसरे को लक्ष्य करके व्यंग वाणी में न बोलेंगे। सीधे उन्हें संबोधन भी न करेंगे। "क्या बतावें आजकल के लडके अपने को सम्राट् समझने लगते हैं। जहाँ तनिक पढ़ लिख गये, माँ बाप को मूर्ख समझने लगते हैं। बुद्धि तो बहुत होती नहीं। समझते हैं हम हो सबसे बड़े बुद्धिमान हैं। मानो संपूर्ण संसार की बुद्धि का इन्होंने ही ठेका ले लिया हो।

यद्यपि ये बातें गोल मोल हैं, सबके प्रति सार्वजनिक भाव से कही गयी है। कटाक्ष अपने पुत्र के ही ऊपर है। पुत्र भी समझता है, ये सब बातें मेरे ही ऊपर कही जा रही हैं। किन्तु पिता पुत्र के प्रेम की एक ऐसी दृढ़ श्रृंखला है, कि कितनी भी कटु बातें कही जायँ, उनसे कटुता नहीं आती। पुत्र और विनम्र होता जायगा, पिता अपने कटाक्ष बाणों की वर्षा और भी तीक्ष्ण

करता जायेगा। कभी हंसी उड़ावेगा, तो बीच में स्नेह भी उगलता जायगा। बेटा! हम ये बातें तुम्हारे हित के लिये कह रहे हैं। अब इन्हें चाहे मानो या न मानो।" कैसा अपूर्व स्नेह है! इस स्नेह की प्रत्यक्ष झांकी भगवान् हृषीकेश श्रीकृष्णचन्द्र और गुड़ाकेश अर्जुन के सम्वाद में देखने को मिलती है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! जब अर्जुन प्रपन्न हो गये और दीन होकर शिष्य भाव से अपना श्रेय पूछने लगे तब भगवान ने पूछा—मैंने तुमसे कह तो दिया तुम्हारा विचार अनार्यों जैसा है, स्वर्ग को न देने वाला है और कीर्ति का नाश करने वाला—अकीर्ति कारक है। अब तुम क्या कहते हो तुमने निश्चय क्या किया है?

अर्जुन ने तब उन गोविन्द से कहा जिन्होंने इन्द्र के कोप से गौओं की रक्षा की थी। इन्द्र को भी कर्तापने का अभिमान हो गया था। कृष्ण को मनुष्यों का छोकरा मानने लगा था। ब्रज को वह शोक से नहीं जल से निमग्न करना चाहता था। उस समय भगवान् ने समस्त ग्वालबाल तथा गौओं की रक्षा की थी। स्वर्ग से सुरभि तथा इन्द्र आये और सुरभि के कहने पर इन्द्र ने उन्हें 'गोविन्द' इस नाम से सम्बोधन किया। क्योंकि उन्होंने दुखित ग्वाल-बालों और गौ तथा बछड़ों की रक्षा की थी। ऐसा ही समय अब फिर दोनों सेनाओं के मध्य में महाभारत युद्ध में आ गया है। अर्जुन शोक के सागर में निमग्न हो गया है; वह संशय ग्रस्त होकर गोविन्द से यह कहकर कि जब तक आप मेरी शंका का समाधान न कर देंगे—जब तक आप मुझे श्रेय का मार्ग सुझा न देंगे जब तक यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, इसे स्पष्ट बता न देंगे, तब तक मैं युद्ध कभी भी न करूँगा न करूँगा त्रिकाल में भी युद्ध में प्रवृत्त न हूँगा। इतना कहकर चुप हो गये। चुप होने

का-अभिप्राय यह कि अब तक तो मैं अपनी ही बात बकता रहा। आप भी चुपचाप सुनते रहे। अब मेरा वक्तव्य तो समाप्त हुआ मुझे तो कुछ कहने को शेष नहीं है। अब आप भी कुछ कहिये। मेरी हाँ में हाँ ही न मिलाते रहिये।

सञ्जय महाराज धृतराष्ट्र को बता रहे हैं राजन्! जब अर्जुन अपनी समस्त युक्तियाँ देकर और यह सिद्ध करके कि स्वजनों से युद्ध करना सर्वथा अनुचित है, फिर भी मैं आपका शिष्य हूँ जो कहोगे वह करूँगा। ऐसा कहकर जब चुप हो गया। तब भगवान् ऊपरी मन से हँसे। अभिप्राय यह कि यहाँ प्रसन्नता की हँसी नही है, किसी विनोद की बात पर भी अट्टहास नही है। यहाँ तो अर्जुन की मूर्खता पर हँसी का अभिनव किया गया है। अपना मित्र है, सुहृद है, साथी है सम्बन्धी और अब शरणागत है, प्रपन्न है शिष्य है अपना ही है, उसकी मीठी-मीठी खिल्ली उड़ाने को हँसते हुए का सा स्वाँग बनाकर बोले।

हँसते हुए से क्यों बोले जी ?

इसलिये कि अर्जुन बहुत अधिक चिन्तित हो गया है, बहुत दूर तक की सोचता गया है, विचारों की एक शृंखला बँध गयी है। जैसे कोई पक्षी सोचने लगे—मैं यहाँ वृक्ष पर बैठा हूँ। ऊपर इतना बडा नीला आकाश का छत्र तना है। यदि यह पूरा आकाश मेरे ऊपर गिर पड़े तो मै मर जाऊँगा। यह सोच कर वह दुखी चिन्तित होकर अपनी रक्षा के विविध उपाय सोचने लगता है। अभी न तो आकाश गिरा है न निकट भविष्य में गिरने की संभावना ही है, किन्तु उसने अपने विचारों से ही अपने ऊपर एक भावी संकट की कल्पना कर ली है। यही दशा अर्जुन की है, वह स्वजनों के वध से कुल क्षय पाद से विषण्णवदन होकर बैठा है। भगवान् से क्या कर्तव्य है क्या अकर्तव्य है इसकी जिज्ञासा कर

रहा है। भगवान् का कर्तव्य है, उसकी शंका का समाधान करें, इसके पूर्व उसकी उदासी को दूर करें। उसके शोकयुक्त मुखमंडल को पुष्प की भाँति खिला दें। यह स्वाभाविक बात है, दुखी को देख कर मनुष्य दुखी हो जाता है, हँसते हुए को देखकर हँसी आ जाती है। बड़ी-बड़ी निर्मल स्वच्छ सुहावनी लजीली कँटीली रतनारी आँखों को देखकर आँखें खिल उठती हैं, मन में हर्ष होता है, इसके विपरीत दुखी हुई, पानी भरी दीढ से सँनी आँखों को देखकर हमारी आँखों में स्वयं किरिकिरी सी होने लगती है पानी भर आता है। इसी हेतु से अर्जुन को हँसाने के लिये उसका शोक मोह दूर करने के लिये कुछ-कुछ मीठी चुटकी लेने के अभिप्राय से भगवान् हँसते हुए की भाँति ऊपर से हँसते हुए बोले।

दोनों सेनाओं के बीच का यह संवाद है रथ के ऊपर ही बैठे-बैठे यह कथोपकथन हुआ है, अतः बहुत लम्बा भी न होना चाहिये अधिक से अधिक दो तीन घड़ी में ही इसे समाप्त करना है, साथ साथ इसमें सम्पूर्ण शास्त्रों का सार भी कह देना है। इस कार्य को भगवान् के अतिरिक्त कोई दूसरा कर नहीं सकता। इसीलिये दोनों सेनाओं के बीच में हृषीकेश गुडाकेश से बोले।

सूतजी कहते है—अब मुनियो! भगवान् बोले क्या? उसे भी दत्तचित्त होकर सुन लीजिये।

छप्पय

भरतवंश अवतंस! विकट भव रनके पथमें।
भयो सुखद संवाद कृष्ण अरजुनको रथमें॥
हृषीकेश मन हँसत शोक महँ मगन पृथासुत।
अन्तरजामी श्याम समुझि ताको, दुख हियगत॥
मंद मंद मुसकात प्रभु, भक्तनि बन्दित जिन चरन।
उभय सैन के मध्य में, प्रेम सहित बोले बचन॥

न सोचने योग्य बात का सोच क्यों करते हो ?

[६]

श्री भगवानु वाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भापसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥❀

(श्री भ० गी० २ अ० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

बोले श्रीभगवान—अरे, अरजुन ! च्यौं चिन्तित ।
सोच जोग जो नाहिँ तिनहिँ कूँ तू अब सोचत ॥
शास्त्रनि ज्ञान बघारि, वचन पंडित सम बोलै ।
भयो मोहवश मीत धरम क्षत्रियतैं डोलै ॥
जिनके प्रान नहीं गये, गये प्रान जिनके तुरत ।
नहिँ सोचत पंडित उभय, कालचक्र घूमत सतत ॥

विपयों से वैराग्य हो, बुद्धि निर्मल हो, विवेक करने की शक्ति

❀ भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—अर्जुन ! शोक न करने वालों का तू शोक करता है और बात कहता है पड़ितों जैसी । देख भैया !

हो, सत् असत् के समझने की सामर्थ्य हो तभी यथार्थ वस्तु ...
होता है। तत्वज्ञान के लिये वैराग्य विवेक दोनों ...
है। यद्यपि त्याग ही अमृतत्व प्राप्ति में कारण बताया है, ...
त्याग भी विना वैराग्य के टिक नहीं सकता। हम रोते हैं ...
हमारा कान ले गया, किन्तु अपने कान पर हाथ रखकर
देखते है कि वास्तव में हमारा कान है या नहीं। बस, सुनी सुना
वातें याद कर करके उनके लिये एक मिथ्या अनुमान ल...
रहते हैं उन्हीं के कारण दुखी, चिन्तित, शोकाकुल और वि...
वदन बने रहते है। व्यर्थ में रोते रहते हैं। यही जीव धर्म...
यही जीव का नर का स्वभाव है। नारायण का स्वभाव इससे वि...
है। वे सोच नहीं करते सदा आनन्द में मग्न रहते हैं प्रसन्नता
परिपूर्ण बने रहते है, कभी शोक संविग्न नहीं होता सदा हँ...
रहते है। यह हास्य ही शोक संविग्न साथियों के शोकाश्रु स...
को शोषण करने में सुखाने में समर्थ होता है। शोक से ...
कितने भी आंसू निकले हों उन आंसुओं का चाहे जितना ...
समुद्र बन गया हो जहाँ भगवान् जोरों से हँसे मानों पूरा शोक
आंसुओं का समुद्र सूख गया। भगवान् के हँसने की ही देर
जहाँ हँसे तहाँ सब दुःख खँसे सो हे प्राणियों! भगवान् की
तो निरन्तर वनी रहती है वे तो सदा प्रसन्न है किन्तु वह
तुम्हें देखने को कब मिलेगी इसकी प्रतीक्षा करो, वह हँसी ...

पंडित तो वे कहलाते हैं जो प्राण चले जाने वालों का और जिनके
नहीं गये हैं उन दोनो का ही शोक न करते हों। तू सोच, क्या मैं
काल में नहीं था तू नहीं था, ये राजा नहीं थे। अर्थात् हम सब
भी थे। और क्या आगे हम सब नहीं रहेंगे ? अर्थात् आगे भी ...
...रयो बने रहेंगे।

अपने साधन से प्राप्त नहीं होने को। वे ही जब कृपा करें। उनके ही हृदय में जब जीव के प्रति करुणा उदय हो जाय। वे तो प्राणि मात्र के सुहृद् है। इस बात को बिना समझे ही हम शोक मग्न अशान्त बने रहते हैं। जहाँ हमें इस सत्य का भान हो जाय कि श्यामसुन्दर तो प्राणि मात्र के मीत हैं हितू है अपने है, फिर दुःख का क्या काम ऐसा निश्चय हो जाने पर तो परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। जिनको श्यामसुन्दर की हँसी देखने को मिल जाय, वे तो बड़भागी ही है फिर जिन्हे उनका गीता ज्ञान सुनने का सुअवसर प्राप्त हो उनके सम्बन्ध में तो फिर कहना ही क्या ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब जब अर्जुन को सर्व कर्म छोड़कर एक मात्र अपने ही अधीन समझ लिया जब उसने यह वचन दे दिया कि तुम जो कहोगे वही करूँगा, तब भगवान् बोले। मनहूस की भाँति मुँह लटकाकर गाल फुलाकर, अहकार जताकर, अकड़ दिखाकर नही बोले। प्यार से बोले दुलार से बोले ममता भरी वाणी में बोले—अपनापन प्रकट करते हुए; हँसते हुए से बोले। वे तो वासुदेव है घट-घट मे वास करने से ही उन्हे वासुदेव कहते है। सर्व प्रथम ज्ञान देते समय मंगलाचरण करना चाहिये। भगवान् वासुदेव का नाम लेना चाहिये। ये तो स्वय वासुदेव है, ये किसका नाम लें, ये सर्व प्रथम सबसे पहिले अक्षर को बोले क्योंकि ये स्वय ही अ-क्षर है। इनका कभी क्षर नाश नहो होता। अपना ही नाम सर्वप्रथम लें। एकाक्षरी कोश में "अकार" को वासुदेव कहा है। 'अकारो वासुदेव स्यात' इसलिये भगवान् ने उपदेश आरम्भ करने के पूर्व सर्वप्रथम 'अकार' का उच्चारण किया। फिर 'शो' का उच्चारण किया। अर्थात् यह बताया कि सोच तो जीव को संसारी भोग्य पदार्थों

में ही होता है। वासुदेव के सम्मुख सोच का क्या काम ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन ! तू जिन व्यक्तियों का सोच न करना चाहिये उनका सोच करता है।

अर्जुन ने कहा महाराज ! मैं न सोच करने वालों का सोच कहाँ करता हूँ। मैं तो अपने स्वजनों का बन्धुबान्धवों का गुरुजनों का शोक करता हूँ।

भगवान् बोले—"देखो, फिर वही बात, बात कर रहे हो मूर्खो की सी और लगाते हो अपने को बड़ा भारी पंडित। मानों सर्व शास्त्र तुमने ही पढे हैं। दूसरा तो शास्त्रों के सम्बन्ध में कुछ जानता ही नहीं। जानते हो पंडित कहते किसे हैं ?"

अर्जुन ने कहा—"महाराज अब आप ही पंडितों की व्याख्या बता दीजिये।"

भगवान् बोले—देखो, पंडित उसे कहते हैं, जो शरीर में से चाहे किसी के प्राण चले जायँ चाहे शरीर में प्राण बने रहें उसकी चिन्ता न करता हो।

अर्जुन ने कहा—महाराज ! यह तो निर्मोही निर्दयी का काम है, कि मरने पर भी किसी के लिये न रोवे अपने स्वजन है, बन्धु है, आत्मीय है, मरते है तो उनके लिये सोच होता ही है। घर में किसी के सनान होती है तो हर्ष होता ही है।

भगवान् ने कहा—अच्छा अर्जुन हमें बता दो जिसके शरीर में प्राण हैं, वे कौन हैं ?

अर्जुन ने कहा—"महाराज ! यह भी कोई पूछने की बात है। आप है, हम है, ये सब राजागण है सब प्राणधारी जीवित ही हैं। जब तक इनके शरीर में प्राण हैं तब तक ये प्राणवान् जीवित हैं जब इनके प्राणों का अन्त हो जायगा। प्राणान्त होने पर ये ही मृतक बन जायेंगे।"

भगवान् ने पूछा—"मर कर कहाँ चले जायेंगे ?"

अर्जुन ने कहा—परलोक वासी बन जायेंगे।

भगवान् ने पूछा—फिर ये परलोक वासी होने पर रहेंगे की नहीं।

यह सुनकर अर्जुन कुछ द्विविधा सी में पड़ गये तब भगवान् ही कहने लगे—"देखो, तुमने तीन नाम लिये 'त्वं' 'अहं' और 'इमे' अर्थात् तू, मैं और अन्य। उत्तम पुरुष मध्यम पुरुष और सर्वनाम। अब पहिले मैं पर ही विचार करो! तुम कह सकते हो पहिले मैं नहीं था ?"

अर्जुन ने कहा—"महाराज, मुझे क्या पता कि आप पहिले थे कि नहीं ?"

भगवान् ने कहा—देखो, भाई! ध्यान लगाकर देखो, मैं पहिले बदरीवन में तप करने वाला नारायण ऋषि था कि नहीं ?

भगवान् ने कहा—तब मैं वही नारायण हूँ या नहीं ?

अर्जुन ने कहा—हाँ महाराज! आप साक्षात् नारायण हो।

भगवान् ने कहा—तुम पहिले थे या नहीं ?

अर्जुन ने कहा—भगवन्! मैं भी पहिले था।

"तुम कौन थे ?" भगवान् ने पूछा।

अर्जुन बोले—"प्रभो! मैं आपका सेवक सखा, बन्धु नर था।"

अच्छा, ये राजागण पहिले थे या नहीं ?

अर्जुन ने कहा—हाँ प्रभो। ये भी लोग कोई देवता थे, कोई असुर थे, ये सब भी पहिले थे।

भगवान ने कहा—अच्छा, इसके आगे हम तुम और ये सब रहेंगे या नहीं ?

अर्जुन ने कहा—अब महाराज आगे की बात तो मैं जानता नहीं।

भगवान् ने कहा—जो पहिले था, अब भी है, वह आगे रहेगा ही। जो भूत में था वर्तमान में है वह आगे भी रहेगा।

अर्जुन ने कहा—अच्छा महाराज। मान लो पहिले भी था, आगे भी रहेगा, तो जिस रूप में अब है उस रूप में तो नहीं रहेगा। जो हमारे सम्बन्ध के अनुरूप में नहीं उसके रहने में भी क्या लाभ ?

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—देखो, भैया! अर्जुन कुछ सोच समझ कर बातें किया करो। तुम कहते हो भीष्म द्रोणादि जिस रूप में हैं उस रूप में तो ये मरकर नहीं रहेंगे। अब मैं तुम्हीं से पूछता हूँ अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों कोई रहता है। नदी का पानी एक रूप में रहता है क्या कभी? कभी निर्मल रहता है, कभी गँदला हो जाता है। गँदले पानी को नदी का पानी नहीं कहते क्या ? क्या जल सदा एक सा ही रहता है ? वह तो प्रति क्षण प्रति पल बदलता रहता है। उसके स्थान पर दूसरा जल आ जाता है, कल तुम जिस जल में स्नान करके आये थे, वह जल बह कर न जाने कहाँ चला गया। फिर भी आप आज कहते हैं मैं तो कल के ही स्थान पर कल वाली गंगा में ही स्नान करके आया हूँ। आप रोते तो नहीं हाय! कल जिस जल में मैंने स्नान किया, वह जल न जाने कहाँ चला गया। अब यह नया जल आया है। जल में नया पुराना क्या ? नदी का प्रवाह तो एक ही है। एक बहता है दूसरा जल उसका स्थान ग्रहण करता जाता है। जल की धार तो अविच्छिन्न रूप से बह ही रही है। जल तो एक ही है। मृत्तिका आदि के संसर्ग से सूर्य चन्द्र की किरणों से वह गँदला, गरम तथा ठंडा होता रहता है,

संसर्ग से उसके यथार्थ स्वरूप में तो च्युति नहीं आती।

अर्जुन ने कहा—महाराज, नदी का पानी तो वह गया वह समुद्र में विलीन हो जाता है, फिर वह लौटकर तो नदी की धारा में नहीं आता।

भगवान् ने कहा—अरे भाई, आता क्यों नहीं। समुद्र से वाष्प बन कर जलधर मेघ उन्हें फिर ले आते है, फिर वर्षा देते हैं, फिर उसका हिम बरफ बना देते है, पिघलकर या वर्षा में बरस कर पुनः प्रवाह में पतित हो जाता है। यह आवागमन तो लगा ही रहता है। अच्छा मैं दूसरा शरीर का ही दृष्टान्त देकर तुम्हें समझाता हूँ, इसे तुम भली भाँति समझ जाओगे।

अर्जुन ने कहा—हाँ, महाराज शरीर का ही दृष्टान्त देकर समझावें क्योंकि जो भी प्राणधारी है, शरीर सभी पर है। शरीर तो जीवका रहने का स्थान है। कैसा भी शरीर क्यों न हो, बिना शरीर के जीव रह न सकेगा। अतः शरीरधारी शरीर के दृष्टान्त से सरलता से समझ सकेंगे ?

सूत जी कहते है—मुनियो ! अब भगवान् शरीर का ही दृष्टान्त देकर आत्मा की अजर अमरता का जैसे प्रतिपादन करेंगे, उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

ऐसो कबहूँ काल नहीं जामें हौं माहीं।
ऐसो हू नहिं काल रहे नहिं तू जिहि माहीं॥
ये जितने हैं भूप उभयदल के क्षत्रियगन।
समय न ऐसो कबहुँ रहें नहिं जामें जे जन॥
कबहुं न आवै सो समय, जामें हम तुम नृपति सब।
रहैं नहीं संसार महँ, सोचे क्यों तू पार्थ तब॥
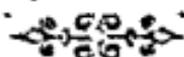
द्वन्द्वों को सहन करो

[७]

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥*

(श्रीभा० ६ गी० अ० १३, १४ श्लो०

छप्पय

जैसे देही देह माहिँ बालक बनि जावे।
फिरि हूँ जावे युवक रँगीलो समय बितावे॥
पुनि बनि जावे वृद्ध चले तब लठिया टेकत।
लचि जावे तिहि कमर रहे नीचे कूँ देखत॥
तैसे तजि इक देह कूँ, देही जावे अन्य तन॥
होवे मोहित धीर नहिँ, करे न कवहूँ खिन्न मन॥

हमारे शरीर में दो हैं, एक देह दूसरा देही। देही अर्थात्

*भगवान् कह रहे हैं—हे अर्जुन! जैसे शरीराभिमानी जीव इस देह ही में बालक युवक तथा वृद्ध इन अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार दूसरे शरीरों में भी चला जाता है, धीर पुरुष इस विषय में मोह को प्राप्त नहीं होते। हे भारत! इन्द्रिय और उनके विषयों के संयोग से जो सरदी, गर्मी तथा सुख दुख होते हैं, वे उत्पत्ति विनाशशील तथा अनित्य हैं। इसलिये हे कुन्तीनंदन! उनको तुम सहन करो।

शरीराभिमानी जीवात्मा। जीवात्मा तो कभी मरता नहीं क्योंकि वह नित्य है। हाँ शरीर अवश्य बदल जाता है। जो जीवात्मा आज मनुष्य योनि में है, वही कल मानवेतर योनि में चला जाता है शरीर तो नाशवान् है ही। अतः न तो आत्मा के लिये सोच करना चाहिये क्योंकि वह मरता नहीं है और शरीर के लिये भी सोच नही करना चाहिये, क्योंकि वह तो क्षणभंगुर नाशवान् है ही। जिन्हें ज्ञान हो गया है, वे कैसी भी परिस्थिति में रहें, कभी दुखी नहीं होते। दैत्यराज बलि पूर्ण ज्ञानी थे। सर्वस्व दान देने पर भी भगवान् ने उन्हें बांध लिया, फिर भी वे विचलित नहीं हुए। उनके जीवन की एक बहुत ही दिव्य शिक्षाप्रद कथा आती है।

एक बार देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त कर ली। असुरों को स्वर्ग से ही नहीं निकाल दिया उनके घरों से भी निकाल दिया। तब असुरों के राजा महाराज बलि गधे की योनि में रहकर—गधा बनकर—समय बिताने लगे। वे एक छोटे से स्थान में गधा बने पड़े रहते थे। एक दिन घूमते फिरते इन्द्र उधर आ निकले। उन्होंने गधा बने हुए महाराज बलि को पहिचान लिया। और हंस कर बोले—कहो दैत्यराज! अब तो तुम सुखी होगे? गधा बने हुए तुम्हें लज्जा भी नहीं लगती? एक दिन तुम स्वर्ग के स्वामी थे, आज गधा बनकर जीवन यापन करते हुए दुःख भोग रहे हो?

यह सुनकर गधा बने बलि बोले—इन्द्र! तुम्हारे सहस्र नेत्र होने पर भी तुम नितान्त अंधे ही रहे। भाई इसमें लज्जा की कौन सी बात है।

इन्द्र ने कहा—त्रिलोकेश होकर आज गधा बने हो यह लज्जा की बात नहीं?

वलि ने कहा—गधा क्या है ?

इन्द्र ने कहा—एक योनि है, देह है।

वलि ने पूछा—देह किसकी है ?

इन्द्र—देही जीवात्मा की देह है।

वलि ने पूछा—देह नित्य है या अनित्य ? नाशवान् है या शाश्वत्।

इन्द्र ने कहा—देह तो सभी नाशवान्, अनित्य क्षणभंगुर होती हैं।

वलि—और देही ?

इन्द्र ने कहा—देही तो नित्य-शाश्वत सदा एक रस रहने वाला है।

वलि—फिर तुम दुखी किसे समझ रहे हो। यदि देह के कारण लज्जित या दुखी है, तो देह तो अनित्य क्षणभंगुर नाशवान् है ही उसके लिये सोच करना हँसना तो व्यर्थ ही है। यदि तुम आत्मा पर हँस रहे हो, उसे दुखी या हँसी योग्य समझते हो, तो समझते रहो। जो शाश्वत है नित्य है निरंजन है, उसको न तो कभी दुख सुख होगा और न तुम्हारी हँसी उडाने से उसका कुछ बिगड ही जायगा। जैसा ही इन्द्र का शरीर वैसा ही गधे का शरीर शरीरो में तो कोई अन्तर नहीं। कभी तुम्हारे शरीर में रहने वाला जीवात्मा भी गधे के शरीर में प्रवेश कर सकता है। धीर पुरुष—ज्ञानी पुरुष—देह बदलने से न तो मोहित ही होते है, न किसी की हँसी ही उड़ाते हैं। इसी विषय को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने शरणापन्न अर्जुन को सरलता के साथ युक्ति सहित समझा रहे है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन को इस शरीर का ही दृष्टान्त देकर समझाते हैं। वे कहते हैं—

अर्जुन ! तुम बताओ। शरीर किसे कहते हैं ?

अर्जुन ने कहा – शरीर वही जिसमें इन्द्रियाँ हाथ पैर आदि हों।

भगवान् ने कहा—ये सब अवयव तो शव-मृतक देह में भी होते हैं।

अर्जुन ने कहा—महाराज, उसमें जीवात्मा तो रहता ही नहीं। जीवात्मा के बिना तो शरीर व्यर्थ है।

भगवान् ने कहा—तो तुम्हारे कथन से दो वस्तुएं सिद्ध हुई। एक देह और दूसरा उसका अभिमानी जीवात्मा। अब यह बताओ शरीर नित्य है या अनित्य ? घटता बढ़ता कौन है ?

अर्जुन ने कहा—शरीर तो अनित्य है, क्षणभंगुर है, नाशवान् जीवात्मा के संसर्ग से घटता बढता रहता है।

भगवान् ने पूछा—जीवात्मा घटता बढ़ता है मरता जीता है ?

अर्जुन ने कहा—आत्मा तो नित्य है शाश्वत है, उसमे घटना बढ़ना संभव नहीं।

भगवान् ने कहा—तब मरना जीना क्या हुआ ? सोच किस बात का होता है ?

अर्जुन ने कहा—सोच इसी बात का होता है, वह एक शरीर दूसरे शरीर में चला जाता है सम्बन्धियों से विछोह हो जाता है।

भगवान् ने कहा—बदलना ही दुःख का कारण है, तो शरीर प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। जो आज बालक है, वह थोड़े दिन में युवक हो जाता है। वह क्या रोता रहता है, कि हाय मैं छोटे मे बडा क्यों हो गया, पतले से मोटा क्यों हो गया ? ठिगने से लम्बा क्यों हो गया ? बालकपन में तो मेरे दाँत नहीं थे दाँत क्यों आ गये ? छोटेपन में तो मेरे दाढ़ी मूँछ नहीं थी क्यों उग आई ? फिर वृद्ध हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है, कम सुनाई

देता है, कम दीखता है, भूख कम लगती है, कमर झुक जाती है, बाल सफेद पड़ जाते हैं, अंगों में झुर्रियाँ पड़ जाती है, किन्तु वह यह नहीं कहता मै वह नहीं हूँ। शरीर में इतने परिवर्तन होने पर भी अपने को वही समझता है। जब एक ही शरीर में इतने परिवर्तन होने पर सोच नहीं करता तो दूसरा शरीर प्राप्त करने पर सोच किस बात का। एक शरीर का अभिमानी हुआ दूसरे शरीर का वही अभिमानी बन गया। शरीर तो अनित्य क्षणभंगुर नाशवान और परिवर्तनशील होता ही है।

जो इस विषय को जानता है, जिसने धैर्य धारण करके विषय को समझा है, वह तो चिंता करेगा नहीं। मूर्ख भले मोह को प्राप्त हो जाय।

अर्जुन ने कहा—महाराज, आत्मा तो नित्य है, यह निर्विवाद बात है, फिर भी देह से देही का सम्बन्ध हो जाने उस व्यक्ति के बहुत से सगे सम्बन्धी स्वजन बन जाते हैं। देही एक देह को त्यागकर दूसरे देह में जाता है, तो स्वजनों को दुःख होता ही है।

भगवान् ने कहा—अच्छा यह बताओ दुःख किसे कहते हैं? पहले दुख सुख को ही समझ लो। पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। पाँच उनके विषय, शब्द, रूप, रस, गंध, और स्पर्श। जब इन्द्रियों का विषयों से संयोग हो जाता है तभी दुख सुख होता है। सरदियों में त्वचा का अग्नि से संयोग हो जाय सुख लगेगा, गर्मी में संयोग होने से दुख होगा। अनुकूल वेदना को सुख कहते हैं, प्रतिकूलवेदना का नाम दुख है। यह शीतल है यह गरम है यह मीठा है यह कड़वा खट्टा है, यह मधुरराग है यह कर्कश स्वर है। इत्यादि इत्यादि ये तभी भान होते जब स्पर्शेन्द्रिय, रसना आदि तथा श्रवणेन्द्रिय आदि का उनके तद्तद् विषयों से संयोग

हो। ये संयोग स्थायी नहीं नित्य नहीं। उत्पत्ति विनाशशील तथा अनित्य है। जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश अवश्य होगा। वह स्थायी नही। आज हमें रात्रि में जाड़ा लगा, ठिठुरते रहे। सूर्य निकल आया, जाडा भाग गया हम रात्रि की बात को भूल गये। इसलिये जो अनित्य है, क्षणभंगुर है उत्पत्ति तथा विनाशशील है, उसका सोच करना व्यर्थ है। इन्द्रिय और विषयों के संयोग से जो दुःख सुख शीत तथा उष्ण का बोध होता है वह स्थायी नहीं। उसका तो सहन करना ही पडेगा। तितिक्षा ही उसका एक मात्र समाधान है। अतः अर्जुन शोक मोह छोडकर इन द्वंदों को सहन करो। तभी तुम द्वन्दातीत हो सकोगे। तभी मोक्ष के अधिकारी बन सकोगे।

अर्जुन ने पूछा—मोक्ष प्राप्त करने का अमृतत्व लाभ करने का अधिकारी कौन है?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसका उत्तर जो श्री भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

इन्द्रिनि के सब विषय रूप, रस, परस, शब्द जो।
उतपति और विनाशशील सबरे ई ते सो॥
सरदी गरमी होइ होइ संयोग उभय जब।
होवै सुख दुख तबहिँ नित्य नहिँ नाशवान सब॥
नाशवान अरु छनिक जे, सोच कहा तिनिको करै।
सहन करो भारत! तिनहिँ, देही कबहूँ नहिँ मरै॥
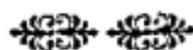
तत्वदर्शी कौन ?

[८]

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥*

(श्री भा० गी० २ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

जो हैं धीर गँभीर पुरुष सुख दुख सम समुझें ।
यह जीवै यह मरै व्यर्थ तामें नहिँ उरझें ॥
इन्द्रिय अरु तिनि विषय नित्य नहिँ आवें जावें ।
उभय होहि संयोग न दुख सुख तें घबरावें ॥
नहीं नित्य रसना न रस, सुख संयोग लखात है ।
उभय योग व्याकुल न जो, अमृत रूप बनि जात है ॥

---

*भगवान् कह रहे हैं—हे पुरुष श्रेष्ठ ! वही धीर पुरुष अमृतत्व [illegible] प्राप्त कर सकता है । जिसे इन्द्रिय और विषयों के संयोग व्याकुल न[illegible] करते तथा जो सुख और दुख को समान समझता है । क्योंकि असत् व[illegible] की कभी सत्ता होती नहीं और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं होता जो लोग तत्वदर्शी हैं, उन्होंने इन दोनों का मर्म भली-भांति जाना है उन्होंने इस तत्व को साक्षात्कार किया है ।

वास्तव में सुख और दुःख क्या है, ये दोनों स्थायी नहीं क्षणिक है। जब इन्द्रियों का अनुकूल विषयों से संयोग हो जाता है तो उसकी सुख संज्ञा हो जाती है, उन्हीं इन्द्रियों का प्रतिकूल विषयों से संसर्ग हो जाता है, उसी को दुःख कहने लगते हैं। ये दुःख सुख स्थायी नहीं होते। एक पूर्वी देश का कृपण आदमी था। उसके पास एक रुपया था, जाड़े के दिन थे। रात्रि मे जब वह सोता तो शीत उसकी इन्द्रियों को व्यथित करता तब वह दुख में रुपये से कहता—"भोर भइल तुहि भुनाई" जहाँ प्रातःकाल हुआ तहाँ तुझे भुना कर रुई लाऊँगा, रजाई बनाऊँगा। प्रातः जब सूर्य निकल आता गुलाबी अनुकूल धूप का उसकी इन्द्रियो के साथ संयोग होता उसे सुख प्रतीत होता। रात्रि के क्षणिक दुख को भूल जाता और रुपये से कहता—"मरिजैयों परि तोड़ न भुनैयो" चाहे मर जाऊँ, परन्तु तुझे भुनाऊँगा नहीं। रात्रि में फिर जाड़ा लगता, पुनः प्रातः रजाई बनाने को प्रतिज्ञा करता। दूसरे दिन धूप लगते ही उसे पुनः भूल जाता। इसी प्रकार उसने पूरा जाड़ा निकाल दिया। गर्मियों में तो जाड़े का प्रश्न ही नहीं था। वह जाड़े की सब बातें भूल गया।

आप सोचिये, यदि दुख स्थायी होता, तो वह कभी टलने वाला नहीं था, भुलाये नहीं भूलता। सुख स्थायी होता तो उसे दुख का अनुभव नहीं हो सकता था। इससे सिद्ध यही हुआ कि जब इन्द्रियों का अपने अनुकूल विषयों से संसर्ग होता है, उसी को लोग सुख नाम से बताने लगते है, प्रतिकूल विषयों का इन्द्रियों से संसर्ग हुआ तो मै दुखी हूँ दुखी हूँ ऐसा कहने लगता है। फिर ये सुख सदा एक से नहीं रहते। जो वस्तु आज हमें सुखद प्रतीत होती है, कालान्तर में उसी को दुखदायी अनुभव करने लगते हैं। जो स्त्री पहिले सुख की खानि प्रतीत होती है। ज्ञान हो जाने

पर सच्चा सन्यासी हो जाने पर, वही दुखदायी अनुभव होने लगती है, उसका स्पर्श भी पाप समझा जाता है। अतः सुख दुख सदा नहीं रहता, किन्ही वस्तुओं में नही। देश काल पात्र के अनुसार इन्द्रियों का विषयों से संसर्ग होने से क्षण भर को इनकी प्रतीति सी होने लगती है। मतिमान् पुरुष इनसे तटस्थ रहते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! अर्जुन की ऐसी जिज्ञासा पर कि अमृत्व लाभ कौन कर सकता है, इस पर भगवान् कहने लगे—अर्जुन ! नित्य और मुक्त जीवों की बात तो तुम छोड़ दो। साधारणतया पुरुष दो प्रकार के होते है। एक बद्ध और दूसरे मुमुक्षु। बद्ध तो वे कहाते हैं—जो आहार निद्रा मैथुनादि में ही समय बिताते हैं, इन्द्रियों के ही दास बने रहते हैं। वे अधम पुरुष हैं और जिनको ज्ञान की जिज्ञासा होती है जो सोचते रहते हैं जीव क्या है, जगत् क्या है, आत्मा क्या है, उसका इन्द्रियों के साथ क्या सम्बन्ध है। दुख सुख क्या है वे मुमुक्षु कहलाते हैं। वे बद्ध पुरुषों मे से श्रेष्ठ कहलाते है। हे पार्थ ! तुम श्रेष्ठ पुरुषों से ही हो। तुम बद्ध प्राणी नहीं। पुरुषर्षभ हो। मूर्खों को समझाने में बड़ी कठिनायी होती है। क्योंकि उनका अन्तःकरण विषयासक्त होने के कारण मलिन रहता है। मलिन वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता। तुम्हारा हृदय त्याग और वैराग्य के कारण निर्मल हो गया है। तुम पहिले कह ही चुके हो कि चाहे तीनों लोकों का राज्य भी मुझे मिले। मै इन्द्रियों की तृप्ति के लिये अधर्म कार्य न करूंगा। ऐसी बात निर्मल चित्त का पुरुष ही कह सकता है। शुद्ध अन्तःकरण वाले को समझाने में भी कोई कठिनायी नही होती। मलिन हृदय के पुरुष तो विषयो में निमग्न रहते हैं शास्त्रों का उपदेश ऐसे लोगों के लिए है भी नहीं

शास्त्र तो केवल मुमुक्षु पुरुषों के हितार्थ ही है। सो मैं तुम्हें समझाता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनना। मुझे एक बात सहस्र बार कहनी पड़ेगी। उसे तुम पुनरुक्ति दोष नहीं मानना। क्यों कि जब तक बात श्रोता की बुद्धि में भली भाँति न भरेगी वक्ता उसी बात को बार-बार दुहराता रहेगा। जैसे किसी के फोड़ा है। उसके पीड़ा हो रही है, तो जब तक पीड़ा न जाय, तब तक वह बारंबार 'हाय-हाय' इस शब्द को कहता ही रहेगा। पीडा समाप्त होने पर ही वह "हाय" कहना बंद करेगा।

हाँ तो तुमने अमृतत्व लाभ करने वाले के सम्बन्ध में पूछा था, सो मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि इन्द्रियों का अनुकूल विषयों से जो संयोग है उसे सुख कहते हैं। प्रतिकूल विषयों का जब इन्द्रियों से संयोग होता है वह दुख कहलाता है। जिस धैर्यवान् पुरुष को इन्द्रिय और विषयों का संसर्ग विचलित नहीं कर सकता वही मोक्ष का अधिकारी है। भोजन नहीं मिल रहा है और आप कहें कि हम तो एकादशीव्रत हैं, तो यह व्रत, व्रत नहीं कहा जा सकता। यह तो अन्न न मिलने की विवशता है। अन्न रहते हुए भी हृदय से उसको त्याग दें। वही व्रत है। जब इन्द्रियों के विषय सम्मुख ही नहीं हैं तो कैसे हम कह सकते हैं कि आप बड़े धैर्यवान् हैं। विकारों के कारण उपस्थित रहने पर भी जिनका मन विचलित नहीं होता, यथार्थ में वे ही पुरुष धीर कहाते हैं इन्द्रियों और विषयों का संयोग होने पर भी जिनके मन में व्याकुलता नहीं आती। जो सुख दुख दोनों को ही समान समझते हैं, वास्तव में वे ही अमृतत्व के अधिकारी हैं, वे ही मोक्ष के योग्य कहाते हैं।

जो असत है, जैसे गदहे के सींग, शशक के सींग, बन्ध्या का पुत्र, ईख का फल, चंदन का फूल, उनका कभी भाव नहीं होता। जो वस्तु है ही नहीं उसका अस्तित्व होगा ही कैसे। और जो सत

है उसका कभी अभाव नहीं होता। जैसे सूर्य की किरणें, जल में शीतलता, अग्नि में दाहता, सुवर्ण में चमक आदि आदि ये सब वस्तु के साथ बनी ही रहती है। सुवर्ण के चाहे जैसे आभूषण बना लो उसका सुवर्णपना नष्ट न होगा। मिट्टी के चाहे जैसे चाहे जितने लंबे चौड़े छोटे मोटे पात्र बना लो, उसमें से मिट्टीपना नहीं जायगा। जल को चाहे जैसे गरम कर लो। अन्त में वह शीतल ही हो जायगा। ये दृष्टान्त अनित्य वस्तुओं के हैं, इनमें से चाहे किसी का भाव अभाव संभव भी हो जाय, किन्तु आत्मा जो नित्य शुद्ध चैतन्य है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता और जो अनात्म पदार्थ है उनकी कभी स्थायी सत्ता नहीं हो सकती। इस गूढ़ ज्ञान के रहस्य को सभी नहीं जान सकते। इसके यथार्थ मर्म को सभी नहीं पहिचान सकते। तत्वज्ञानी पुरुषों ने ही सत् और असत् के भाव तथा अभाव के अन्त को पाया है। वे ही इसके यथार्थ मर्म को जानने में समर्थ हो सकते हैं। तुम इस बात को गाँठ बाँध लो कि जो नाशवान् है, त्रिकाल बाधित सत्ता कभी संभव नहीं और जो अविनाशी है उसका कभी विनाश भी संभव नहीं।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! अविनाशी कौन है, अविनाशी की परिभाषा मुझे बताइये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अविनाशी की परिभाषा पूछने पर भगवान् ने जैसे उसकी व्याख्या की है, उस प्रकरण को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

असत वस्तु की कबहुँ कहो का सत्ता होवे।
सत को कबहुँ अभाव न होवे सुरस रोवे॥
सत को होहि न नाश फेरि चिन्ता है काकी।
असत न होवे कबहुँ वेद श्रुति मुनि सब साखी॥
सत्य असत्य स्वरूप कूँ, सब ज्ञानिनि निश्चय कर्यो।
सत्य सदा ई एक रस, असत न जीवे नहिं मर्यो॥

अविनाशी का नाश नहीं।

[६]

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युद्धस्व भारत ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० १७, १८ श्लो०)

छप्पय

कौन असत को सत्य जाहि तुम स्वयं विचारो।
जो सब जग में व्याप्त जगत को एक सहारो॥
वही एक है सत्य सर्वगत विभु अविनासी।
वही पिंड ब्रह्मांड अमर अज घट घट वासी॥
जो अविनासी विभु विमल, अव्यय अरु आधार है।
नाश ताहि को करि सके, एक मात्र जो सार है॥

युद्ध क्षेत्र में आकर युद्ध से कोई भागना भी चाहेगा तो भागकर

* भगवान् कह रहे हैं—हे अर्जुन! तुम उसी को अविनाशी समझो, जिससे यह सम्पूर्ण दृश्यवान् जगत् व्याप्त है। उस अविनाशी का नाश कोई भी करने में समर्थ नहीं। हे भारत ये जितने भी शरीर हैं अन्तवन्त अर्थात् नाशवान् हैं और इनका शरीरी नित्य, अविनाशी और अप्रेय है। इसलिये भैया! तू युद्ध कर।

जायगा ही कहाँ। यह सम्पूर्ण संसार ही युद्ध क्षेत्र है। कहीं न कहीं तो लडना ही पड़ेगा। कहीं क्यों लड़ना पड़ेगा, जिसका जिससे जोड़ बदा है, जिसका नाम जिस योद्धा के साथ लिखा है, उसी से लड़ना होगा। दूसरे से लड़ भी तो नहीं सकते। कोई न किसी को मारता है, न कोई किसी के द्वारा मारा जाता है, करने कराने वाले सब वे ही काले कृष्ण हैं। वे काल स्वरूप हैं वे हो जिसे चाहें मरवा दें वे ही जिसे चाहें जिला दें। संसार चक्र में घूमते रहने वाले रथ की रस्सियाँ उन्हीं के हाथों में हैं। वे चाहें जिधर रथ को घुमा दें। उनके कोई ऊपर नहीं, उनका कोई शासक नही, नियामक नहीं, सिखाने वाला नहीं, चलाने वाला नहीं, पथ प्रदर्शक नहीं, त्रुटि निकालने वाला नहीं, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र एक छत्र सम्राट है। वे ही सबको प्रेरित करते हैं, आज्ञा देते है, स्वयं ही रथ हाँकते हैं और बलपूर्वक युद्ध कराते हैं अवश होकर जीव को उनकी आज्ञा पालन करनी पड़ती है, युद्ध करना पडता है।

वालि को भगवान् ने छिपकर, धोखे से, वृक्ष की ओट से दूसरे से युद्ध करते हुए मार डाला। ऐसा क्यों किया? बस यह पूछने की आवश्यकता नहीं। उन्हें मारना था, मार दिया "मारना था, तो सम्मुख मारते लड़कर युद्ध में मारते ऐसे छिपकर मारना तो अन्याय है?" उनके लिये सभी न्याय है, वे न्याय ही करते हैं। वे सबका कल्याण ही करते हैं, वे प्राणी मात्र के सुहृद हैं। संसार रूपी वाटिका को वे हरी भरी सुसज्जित देखना चाहते है, जिस पेड़ को वे उपयोगी नही समझते काटकर फेंक देते हैं। वे कभी अन्याय नहीं करते।

हाँ तो विषयान्तर न करो प्रकृत विषय पर आ जाओ। वालि के मरने पर उसकी पत्नी तारा रोती हुई भगवान्

समीप आई। भगवान् ने पूछा—भामिनि ! तुम रो क्यों रही हो।

तारा ने कहा—"अपने पति के लिये रो रही हूँ।"

भगवान् ने कहा—तुम्हारा पति तो सामने पड़ा है ?

तारा ने कहा—भगवन् ! यह तो मृतक है। इसमें जो सार था, जीवात्मा वह तो इसमें से चला गया।

भगवान् ने पूछा—कहाँ चला गया वह ?

तारा ने कहा—मैं क्या जानूँ महाराज किसी अन्ययोनि में चला गया होगा।

भगवान् ने पूछा—"क्या शरीर के साथ वह नहीं मर जाता।"

तारा ने कहा—भगवन् ! जीवात्मा का क्या मरना ! आत्मा तो अमर है नित्य है शाश्वत है। नाशवान् तो शरीर ही है। जीवात्मा तो एकयोनि को छोड़कर दूसरी में चला जाता है।

भगवान् ने कहा—"देवि ! जो मैं कहना चाहता था, वह तुमने ही कह दिया। यदि तुम आत्मा के लिये सोच कर रही हो, तो व्यर्थ है, क्योंकि वह तो नित्य है, उसका तो कभी नाश ही नहीं होता अविनाशी है। कोई भी आत्मा का कभी भी नाश करने में समर्थ नहीं। शरीर तो अनित्य क्षणभंगुर नाशवान् है ही। इसका तो नाश होना ही है। जो अवश्यम्भावी है उसके लिये भी सोच करना व्यर्थ है।" इसी बात को भगवान् गीता में अर्जुन को समझा रहे हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने अविनाशी की जिज्ञासा की तब उसको समझाते हुए भगवान् कह रहे हैं—"अर्जुन ! जो इस चराचर में, जो घट-घट में, इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच में उसी प्रकार व्याप्त है जैसे अग्नि में दाहकता व्याप्त है,

उसी को तुम अविनाशी समझो । उस अविनाशी का कोई किसी प्रकार भी, किसी काल में भी नाश नहीं कर सकता। अतः अविनाशी के लिये चिन्ता करना व्यर्थ है । और जो अविनाशी नहीं है, नाशवान् तथा क्षणभंगुर है, उसका तो अभाव, अदर्शन या लोप होना ही है। जो अवश्यम्भावी है, उसके लिये भी शोक करना शोभा नहीं देता।

अर्जुन ने पूछा—नाशवान् क्या है?

भगवान् ने कहा—अरे, नाशवान् तो शरीर है। शरीरी जिस घर मे रहता है, दुपट्टा तानकर जहाँ सोता है, उसे शरीर या पुरी कहते हैं। शरीरों में रहने से जीवात्मा को शरीरी कहते हैं। पुरियो में शरीरों में सोते रहने के कारण ही इसकी पुरुष संज्ञा है। जो नित्य शाश्वत नाश रहित, अप्रमेय जीवात्मा है, उसके वास स्थान को शरीर कहते है। जैसे परिव्राट सन्यासी घूमता ही रहता है कभी किसी दिन किसी फूटे मठ में रह जाता है, कभी किसी मन्दिर में महल में भी वास कर लेता है। प्रातः हुआ अपने दंड कमन्डलु उठाये फिर चल देता है। न जाने कितने घरों में कुटी में वनों में मन्दिरो में उसने वास किया है, जिसे छोड़ देता है. फिर उसकी चिन्ता भी नहीं करता, भूल जाता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा न जाने कितनी पुरियों में देहों में सोया होगा और न जाने कितनी देहों मे इसका सोना शेष है। नित्य अविनाशी को कोई मार नहीं सकता। शरीर को कोई सदा स्थिर नहीं रख सकता। तब फिर भैया! क्यों घबड़ाता है, इन भीष्म द्रोणादि के शरीरों में जो आत्मा विद्यमान है, उसे तो तू क्या तेरे जैसे करोड़ों भी शूर वीर आवें तो भी नहीं मार सकते। और इनका जो शरीर है उसका तो अन्त होना ही है। इसलिये भैया! तू समझ सोच कर आलस्य को छोड़ दे, ...

परित्याग कर दे, मोह को छोड़ दे, ममता को विसार दे। उठकर खड़ा हो, जा और डट कर युद्ध कर। झट से सचेत हो जा, खट से खड़ा हो जा, पट से प्रहार कर और सट्ट से शत्रुओं का संहार कर डाल। तू जो स्वजन स्वजन बार बार चिल्ला रहा है। बता ये विजन कौन है। सभी के सभी स्वजन नहीं हैं। कोई किसी को मारता नहीं। यह सब उसी काल के द्वारा हो रहा है।

अर्जुन ने कहा—फिर मारता कौन है ? मरता कौन है, यही बता दीजिये।

सूत जी कह रहे हैं—मुनियो! अब इस प्रश्न का उत्तर भगवान् आगे देंगे।

छप्पय

आत्मा तो है अमर शरीरी सब दुखभंजन।
नाशरहित निरलेप निरामय नित्य निरंजन॥
अप्रमेय है सदा प्रभा जाकी नहिँ कोई।
सकल शरीरनि माहिँ बसै जीवात्मा सोई॥
नाशवान ये देह सब; क्षणभंगुर सुख दुःखकर।
तातैं मेरी मान सिख, भारत! अब तू जुद्ध कर॥

आत्मा न मरता है न इसे कोई मार ही सकता है

[१०]

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥*
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(श्री भग० गी० २ अ० १९, २० श्लो)

छप्पय

जो यह जानें जीव आतमा मारन वारो।
जो समुझै यह बात आतमा मरयो विचारो॥
अज्ञानी हैं उभय आतमा रूप न जानें।
तातें मारनहार मरयो त्वाकूं वे मानें॥
मारै नहिं जिहि आतमा जग में काहूँ कूँ कबहूँ।
सदा अमर अज एक रस, मरयो ताहि समुझैं तबहूँ॥

हम जिसे 'जीवित देह' कहते है, उसमें दो वस्तु है, एक तो

---

* जो पुरुष इस आत्मा को मारने वाला जानता है, अथवा मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही कुछ नहीं जानते। वास्तव में यह

'जीवन' और दूसरा देह। इन दोनों के संयोग होने से ही यह पुरुष बना है। जीवन चेतन्य है, देह जड़ है। जीवन नित्य है, देह अनित्य है। जीवन की नित्य सत्ता है, देह कभी होता है कभी नहीं होता। देह का नाश हो जाता है, जीवन अविनाशी है वह विनाश से रहित है, जब जीवन देह से पृथक हो जाता है, तो देह मृतक कहलाती है, अन्तवन्त होने के कारण उसका अन्त हो जाता है; किन्तु जिसके सयोग के सम्पर्क से जड़शरीर जीवित था वह आत्मा शरीर से पृथक हो जाने पर भी शरीर के समान मृतक नहीं होता। हम लोग जो सबसे बड़ी भूल करते हैं वह यही है कि देही और देह में, शारीरी और शरीर में पुर में और पुरुष में जड़ में और चेतन्य में भेद नहीं करते है, इस शरीर को ही सब कुछ समझ कर इसी में अहंता कर लेते हैं, और इस शरीर से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं में ममता कर लेते हैं। इस अहंता ममता के कारण ही हम क्लेश उठाते हैं। यदि हमें यह निश्चित ज्ञान हो जाय कि शरीर पृथक है देह के मरने पर देही मरता नही। घर के नष्ट होने पर घर का स्वामी नष्ट नहीं हो जाता। घर के नष्ट होने पर उसमें स्थित आकाश नष्ट नही होता। इसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर आत्मा की कोई हानि नहीं होती।

सूत जी कहते हैं मुनियो ! जब भगवान् ने अर्जुन से यह

जीवात्मा न किसी को मारता है, न स्वयं मरता ही है ॥१९॥

यह आत्मा न तो कभी जन्म लेता है और न कभी मरता ही है तथा यह भी नही है कि यह होकर फिर होने वाला है, यह तीनों कालों मे है इसलिये यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता है ॥२०॥

कहा कि नित्य और अप्रमेय आत्मा अविनाशी है और उसके ये शरीर नाशवान् है, इसलिये तू चिन्ता छोड़ कर युद्ध कर युद्ध करने से तुझे दुःख नहीं होना चाहिये। स्वधर्म पालन रूप कर्तव्य कर्म करने में तुझको प्रसन्नता का ही अनुभव करना चाहिये। युद्ध में शत्रु को मार देने से चित्त में आह्लाद ही होता है।

इस पर अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन ! आप सत्य कह रहे हैं। युद्ध सम्मुख उपस्थित हो, हाथ में अस्त्र-शस्त्र लिये अरिगण युद्धके लिये उद्यत हों, उस समय युद्ध से पराङ्मुख हो जाना क्षत्रिय के लिये अधर्म है, शत्रुओं पर विजय पा लेना मनः संतोष कारक है। आपका यह कहना भी यथार्थ है, कि देह के मरने पर आत्मा नहीं मरता, किन्तु प्रभो ! मनः प्रसाद ही तो धर्म नहीं। पर स्त्री गमन से मनप्रसाद तो होता है, किन्तु शास्त्र दृष्टि से वह है तो पाप ही। कोई हमसे द्वेष करने वाला ब्राह्मण है उसके मार देने पर मन में तो प्रसन्नता होगी, किन्तु ब्रह्महत्या जनित पाप तो लगेगा ही। इसी प्रकार दीनानाथ ! देह के साथ आत्मा चाहे न मरे, आत्मा भले ही अविनाशी और अप्रमेय हो, इन भीष्म, द्रोण तथा कृप आदि गुरुजनों के वध मे पाप तो लगेगा ही। उस पाप में प्रभो ! मुझे क्यों प्रवृत्त करते हैं।

इस पर हँसते हुए भगवान् वासुदेव ने कहा—"मारने वाला कौन है ? और मरने वाला कौन है ?"

अर्जुन ने कहा—"मारने वाला अर्जुन और मरने वाले भीष्म, द्रोण तथा कृपादि गुरुजन।"

भगवान् ने पूछा—अर्जुन, भीष्म, द्रोण, कृप किनके नाम है ?

अर्जुन ने कहा—शरीरों का ही नाम है।

भगवान् ने कहा—जीवात्मा के बिना शरीर तो मृतक जड़ है ही। मृतक को कोई क्या मारेगा। पिसे हुए को कोई क्या पीसेगा ? रही आत्मा की बात सो जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है और जो इसे मृतक मानता है। वे दोनो ही, मूर्ख है, अंधेरे में हैं अज्ञानी है। वास्तविक बात यह है कि आत्मा न तो स्वयं किसी को मारता ही है न किसी के द्वारा वह स्वयं ही मारा जाता है।

अर्जुन ने पूछा— भगवन् ! फिर मरता कौन है ?

भगवान् ने कहा—"देखो भैया, जो उत्पन्न होता है, वह मरता भी है। जिसने जन्म लिया है उसे ध्रुव रूप से मरना ही पड़ेगा। जन्म वह लेता है, जो पहिले नहीं था अब उत्पन्न हो गया है। आत्मा तो सदा सर्वदा विद्यमान है, इसलिये इसके जन्म लेने का प्रश्न ही नहीं उठता जब जिसका जन्म ही नहीं उसकी मृत्यु कैसी। अजन्मा तो अविनाशी अजर अमर है। जो जन्म लेता है उसमें ६ विकार रहते हैं। पहिले उसका अस्तित्व नहीं था जन्म होने पर उसका अस्तित्व हुआ। जो जन्म लेता है, वह बढ़ता है, सनक सनन्दनादि कुमार यद्यपि बढ़ते नहीं सदा ५, ६ वर्ष के ही बने रहते हैं, फिर भी जन्म लेने से ५, ६ वर्ष तक बढ़े ही। फिर ये तो मुक्त जीव है, इनका बढ़ना घटना क्या। साधारण जीव तो जन्म के साथ बढ़ता है। बढ़ने के साथ परिणाम को प्राप्त होता है। लंबा चौड़ा तगड़ा मोटा आदि होता है। बढ़ते-बढ़ते फिर अपक्षीयते-क्षय होने का, वृद्ध होने का प्रारम्भ होता है। बढ़ोतरा रुक जाती है शिथिला आने लगती है। क्षय होते-होते विनश्यति नष्ट हो जाता है मर जाता है। इस लिये जन्म के साथ ही साथ मृत्यु भी उत्पन्न होती है जो जन्मा है उसे एक दिन मरना पड़ेगा। आत्मा में जन्म

मरणादि ६ विकारों में से एक भी नहीं। पहिले कभी न होकर फिर कभी आगे होगा ऐसी भी बात नहीं। न इसका जन्म कभी पहिले था, न अब है न आगे होगा। यह जन्म लेकर सत्ता वाला हुआ है सो भी बात नहीं। यह तो सदा से सत्तावान ही है। यह अज है इसमें उत्पत्ति का प्रश्न हो नहीं उठता। यह ऐसा भी नहीं कि पहिले कभी न रहा हो और पीछे से नित्य हो गया हो, इसमें तो भूत, भविष्य और वर्तमान काल का भेद भाव है ही नहीं। यह तो सदा सर्वदा एक रस रहने वाला शाश्वत है। इसमें कभी नवीनता नहीं पुराण है। पुराण से यह न समझें कि पहिले कभी नवीन था, फिर काल पाकर पुराना हो गया ऐसी बात नहीं है, पुराना होने पर भी नित्य नूतन सा ही बना रहे। इससे यही समझना चाहिये कि यह सभी विकारों से रहित है। जैसे पुराण पुरुष।

एक बार शिवजी का पार्वती जी के साथ विवाह हुआ। विवाह के समय शाखोच्चार दोनों ओर से पंडित बोलते हैं। जब गिरिराज हिमालय के ओर के पंडित शाखोच्चार कर चुके तब शिवजी से पूछा गया आपका क्या नाम है? शिवजी ने कहा—हमें रुद्र, शिव, शंकर अनेक नामों से पुकारते हैं।

फिर पूछा गया—आपके पिता का क्या नाम है?

तब शिवजी ने कहा—"अज।"

फिर पूछा गया—पितामह का क्या नाम है?

शिवजी ने कहा—"विष्णु।"

फिर पूछा गया—प्रपितामह का क्या नाम है?

तब हँसकर शिवजी बोले—"प्रपितामह तो सबके हम ही हैं। शिव, शंकर, रुद्र।"

कहने का अभिप्राय यही कि पुराने होने पर नवीन-नवीन

बने रहते हैं। इस समय ही नवीन बने हैं सो बात नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब हमारे ही पुराण पुरुष के नाम हैं।

भगवान् कह रहे हैं—सो भैया, अर्जुन! आत्मा अमर एक रस है शरीर के मरने पर आत्मा नहीं मरती और जो आत्मा के इस ज्ञान में पूर्ण निष्ठावान् है उसे शरीरों के वध करने पर भी पाप का स्पर्श तक नहीं होता क्योंकि वह जानता है शरीर अन्तवान है आत्मा कभी मरता नहीं। मूर्ख यदि बिना तत्व ज्ञान के इसका आचरण करेगा, तो उसका पतन होगा और तत्व ज्ञानी यदि पूर्ण निष्ठा के साथ इसका अनुसरण करेगा, तो वह पाप पुण्य दोनों से ही छुट कर परमपद का अधिकारी बन जायगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने आत्मा का अजर अमर एक रस स्वरूप बताकर अर्जुन से युद्ध करने को कहा, तब अर्जुन ने शंका करी–भगवन्! यह बात तो समझ में आ गयी कि आत्मा न मरता है और न किसी के द्वारा मारा ही जाता है, किन्तु दूसरों को मारता भी नहीं यह कैसे जाने।" इस पर भगवान् हँसे और बोले—जो स्वयं न मरता है न किसी के द्वारा मारा ही जाता है, ऐसा अविनाशी दूसरे को मारेगा क्या? इसी का उत्तर वे आगे देते हैं।

छप्पय

नहीं आतमा कबहुँ जनम लेवै जा जगमें।
सदा सरबदा रहै मृत्यु के जाइ न मगमें॥
नहिँ होवै उत्पन्न नहिँ पुनि ह्वै बारो।
तीनि काल में रहै काल का करै बिचारो॥
नहीं जनम जाको मरन, नित्य रहै प्रभु पुरातन।
मरि जावै यदि देह तो, नहीं मरै यह सनातन॥

देही नित्य है देह परिवर्तनशील है।

[११]

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥*
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
[श्री भग०गी० २ अ० २१,२२ श्लो०]

छप्पय

जानत जो जिह पुरुष आतमा अज अविनासी।
नित्य, सत्य, सुखरूप अजनमा घट-घट वासी॥
व्यय जाको नहिं होइ कहें अव्यय जाकूँ जन।
तो फिरि सोचो सखे! कौन काको मारे तन॥
जिनकूँ ऐसो ज्ञान है, मरवावें काहू नहीं।
काहू कूँ मारत नहीं, सत असत्य होवें कहीं॥

---

* हे पार्थ! जो इस आत्मा को अज, अव्यय तथा अविनाशी जानता है, वह फिर भला किस प्रकार किसे मरवायेगा? और कैसे किसी को मारेगा? ॥२१॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र को त्याग कर नये वस्त्र धारण कर लेते हैं वैसे ही यह देही-जीवात्मा-पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है ॥२२॥

देह और देही, शरीर और आत्मा तथा जड और चेतन्य सम्बन्ध होने पर अज्ञानी उसे एक धर्मीय ही समझने लगते हैं। देही तो अमर, है। नित्य है, शाश्वत है, जीवन है, किन्तु जिस घर में यह रहता है। वह अनित्य अशाश्वत और जड है। वह जन्मता है मरता है। ज्ञान कोई बहुत भारी वस्तु नहीं। जल और दूध मिलकर एक हो जायँ तो ज्ञानी का परम हंस का काम इतना ही है, कि जल को पृथक कर दे दूध को पृथक कर दे। इसे हंस ही कर सकता है। इसी प्रकार जड़ चेतन की देह देही का जो घुटाला हो गया है उसे ज्ञानी परम हंस ही पृथक कर सकता है। मूर्ख लोग मृत्यु से डरते हैं, वे अपने समस्त कार्य मृत्यु से बचने के लिये ही करते है। हमारा शरीर सदा बना रहे, इसका कभी नाश न हो इसीलिये सुंदर से सुंदर वस्तु खाते है। मूल्यवान औषधियों का सेवन करते हैं, अच्छे से अच्छे चिकित्सकों को दक्षिणा देकर उनसे अजर अमर निरोग बने रहने का विधान पूछते हैं, किन्तु जो नाशवान् है, वह अजर अमर निरोग रह ही कैसे सकता है। तुम लाख मृत्यु से डरो। मृत्यु किसी न किसी दिन तुम्हें धर दबावेगी। किन्तु जो जड़ चैतन्य का, देह देही का, नित्य अनित्य का, मर्म जानते है, वे मृत्यु से डरते नहीं। उसे भी वे एक साधारण सी घटना समझते हैं।

सूतजी कहते है—मुनियो! भगवान् अर्जुन को फिर उसी बात को समझते हुए कहने लगे—हे पार्थ! तुम सोचो तो सही आत्मा और देह ये दोनों विरुद्ध धर्मी है। देह जन्मता मरता है। उसका व्यय ह्रास होता है, घटता बढता रहता है। बाल्य, युवा और वृद्धा ये अवस्थायें होती हैं। यह नाशवान् है। आत्मा का न कभी जन्म है न मरण। वह अजन्मा अमर है। उसमें व्यय नहीं, क्षय नहीं, ह्रास नहीं, बढ़ोत्तरी नहीं, घटोत्तरी नहीं

वह अव्यय है। जिसका जन्म ही नहीं उसके नाश का प्रश्न ही नहीं उठता अतः अविनाशी है। ऐसा अज, अव्यय और अविनाशी आत्मा कैसे किसी को मारेगा और उसे मारने से मिलेगा ही क्या?

अर्जुन ने पूछा—फिर मृत्यु क्या है?

हँसते हुए भगवान् बोले—अरे, मृत्यु भी एक दशा है, एक स्थिति है। जैसे देह की बाल्यावस्था है, युवावस्था है, वृद्धावस्था है वैसे ही सर्वावस्था अर्थात् मृत्यु की अवस्था है।

अर्जुन ने पूछा—मृत्यु किस की होती है, जड़ की या चैतन्य की? आप कहते है, चैतन्य तो कभी मरता नहीं। जड तो जड़ ही ठहरा वह तो मृतक ही है। मृतक की मृत्यु ही क्या?

भगवान् ने कहा—अरे भाई! यह शरीर जड़ और चैतन्य का संहात ही तो है। चैतन्य आत्मा किसी के आश्रय से ही तो रहता है। जैसे कोई पगड़ी, अंगरखी, धोती पहिने पुरुष खड़ा है, आप उसे देखकर यही कहेंगे कि यह देवदत्त खड़े हैं। उस समय आप देवदत्त कहने से उनके वस्त्र, आभूषण, नख बाल, केश सभी का समारोह उसमें कर लेंगे।

वास्तव में जो धोती, अंगरखा, पगड़ी तथा साफी आदि वस्त्र पहिने है, वे उनकी जीवित देह से सर्वथा पृथक् हैं। वस्त्रों के जीर्ण होने पर उन वस्त्रों का परित्याग करके नवीन वस्त्र धारण कर लें तो क्या उन्हें आप देवदत्त न कहेंगे। इसी प्रकार देह में रहने वाला देही, पुराने शरीर को छोड़कर को नया शरीर धारण कर ले तो देही—आत्मा—तो वही रहेगा जैसे पुरुष पुराने-पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये-नये वस्त्र पहिनता रहता है, इसमें वह तनिक भी दुःख नहीं मानता प्रत्युत सु

का ही अनुभव करता है। इसी प्रकार ज्ञानी शरीर परिवर्तन से दुखी नहीं होता नवीन सुख की ही अनुभूति करता है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! जीवात्मा पुराने ही वृद्धावस्थापन्न शरीरों को ही छोड़कर नये शरीर धारण करता हो, सो बात तो नहीं। बहुत से बालक पैदा होते ही मर जाते हैं बहुत से बाल्यावस्था में बहुत से युवावस्था में मरते हैं, वे पुराने ही शरीरों को तो नहीं त्यागते, नये शरीरों को भी त्याग देते हैं।

भगवान् ने कहा—"पुराने से अभिप्राय वृद्धावस्थापन्न शरीर से नहीं है। जीव जब जन्मता है तो प्रारब्ध कर्मों के अधीन होकर ही कार्य करता है। संचित कर्मों में से एक शरीर के भोगने के लिये जितने कर्म दिये जाते हैं उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं। नवीन जन्म होने से पूर्व इस जन्म के आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु ये पाँच बातें पहिले ही निश्चित रहती हैं। जिस शरीर की जितने दिन की आयु दी, उतने दिन भोगने पर वह शरीर जीर्ण ही माना जाता है। युद्ध की सामग्रियाँ की कुछ सीमा होती है, उतना समय बीत जाने पर उस सामग्री का भले एक दिन भी उपयोग न हुआ हो, उसे पुरानी समझकर भंडार से पृथक् कर दिया जाता है। द्विजातियों का यज्ञोपवीत है साधारण नियम तो यह होता है यज्ञोपवीत पुराना होने पर उसका परित्याग कर दिया जाता है, नवीन यज्ञोपवीत उसके स्थान में धारण कर लेते हैं। किन्तु [illegible] यज्ञोपवीत को [illegible] यज्ञोपवीत कान पर नहीं चढ़ाया, [illegible] बदलना पड़ता है। जन्म सूतक [illegible] मृतक सूतक [illegible] गये अस्पर्श का स्पर्श हो गया [illegible] भी अशौच हो [illegible] तब भी यज्ञोपवीत बदलना पड़ता है। [illegible] जीर्ण यज्ञोपवीत त्याग कर नया यज्ञोपवीत धारण [illegible]

आज ही हमारा कोई सम्बन्धी मर गया है और हमें उसकी शवयात्रा में जाना पड़ा, तो आज ही हमें पुनः उस यज्ञोपवीत को बदलना होगा। इतनी ही देर में शवयात्रा के साथ जाने में ही वह जीर्ण समझा जायगा। और पहिनते समय इसी मन्त्र को पढ़ेंगे भी—हे ब्रह्मस्वरूप यज्ञोपवीत! इतने दिन पर्यन्त मैंने तुम्हें धारण किया था, अब जीर्ण होने से ही मैंने तुम्हारा परित्याग कर दिया है। हे सूत्र! अब तुम सुख से चले जाओ, समुद्र में जाओ, समुद्र में जाओ।* जैसे यहाँ जीर्ण से केवल पुराना ही अर्थ नहीं है अनुपयोगी अर्थ है। वैसे ही जीर्ण शरीर त्याग कर नये में चले जाने का अर्थ यही है, कि प्रारब्ध भोग समाप्त होने पर नया शरीर धारण कर लेना। कुछ बहुत बड़े आदमी होते हैं उनका ऐसा नियम होता है, कि जिस वस्त्र को एक बार धारण कर लिया फिर दुबारा उसे धारण नहीं करते। उनके लिये एक बार धारण करने से ही वह वस्त्र जीर्ण हो जाता है।

इसलिये जिस प्रकार बुद्धिमान पुरुष पुराने कपड़े को त्याग कर नया वस्त्र पहिन लेते है और उसमें उन्हें कोई हर्ष शोक नहीं होता उसी प्रकार देही पुराने-पुराने शरीरों को त्याग कर नये-नये शरीरों को धारण करने में किसी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करता।

एक महात्मा थे, उनके पास एक व्यक्ति गया और वह रोने लगा। महात्मा ने पूछा—भाई क्यों रोते हो?

---

* एतावद्दिन पर्यन्तं ब्रह्म त्वं धरितं मया।
जीर्णत्वात् त्वत्परित्यागः गच्छ सूत्र यथा सुखम्॥
[समुद्रंगच्छध्वं २]

उसने कहा—महाराज ! मेरा पुत्र मर गया ।

महात्मा ने पूछा—कैसे मर गया ?

उसने कहा—"सर्प ने काट लिया ।"

महात्मा ने पूछा—"तब क्या चाहते हो ?"

उसने कहा—"महाराज ! उसे जीवित कर दें ।"

महात्मा ने कहा—सायकाल में आना ।

यह सुनकर वह व्यक्ति चला गया। महात्मा बड़े त्यागी थे, एक मिट्टी का पात्र रखते थे । उस आदमी के आने के पूर्व वे शौच चले गये। शौच में जाकर उन्होंने अपना मिट्टी का पात्र फोड़ दिया और चिल्ला चिल्ला कर रोने लगे। इतने में ही वह आदमी आ गया। उसने पूछा—महाराज ! क्यों रो रहे हैं ?

महात्मा ने कहा—भैया ! मेरा यह मृत्तिका पात्र मेरा बहुत दिन का साथी था, इसी ने मुझे नग्नावस्था में देखा। इसी ने मुझे जल पिलाया अब यह फूट गया। अब मैं कैसे करूँगा। अब मैं किसी दूसरे के सामने कैसे होऊँगा।"

उसने कहा—"महाराज ! मिट्टी का ही तो पात्र था, उसका समय आ गया, अवधि समाप्त हो गयी, दूसरा ले लीजियेगा।"

महात्मा ने कहा—नहीं भैया, मैं तो इसी को जोड़ना चाहता हूँ।"

उस व्यक्ति ने कहा—"महाराज ! इसके तो टुकड़े टुकड़े हो गये यह अब कैसे जुड़ सकता है, इसके स्थान पर दूसरा मिट्टी का पात्र ले लें। मिट्टी के पात्र तो बहुत मिलते हैं।"

महात्मा ने कहा—"जैसे खन्ड खन्ड हुआ मृत्तिका पात्र समय आने पर फूट जाने से नहीं जुड़ सकता, इसी प्रकार काल आने पर अवधि समाप्त हो जाने पर-प्रारब्ध कर्मों के चुक जाने पर मृतक

हुआ शरीर पुनः जीवित नहीं हो सकता। जीवात्मा इस शरीर को त्याग कर किसी अन्य शरीर में चला गया। काल रूपी सर्प ने इसे डस लिया इसका अन्त कर दिया। इसमें रहने वाला देही तो मरता नही। वह दूसरे शरीर में चला जाता है, अब इस मृतक शरीर से तुम ममता छोड़ दो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह देह जीवात्मा देही के वस्त्र के समान, यज्ञोपवीत के समान है, जैसे पुरानी वस्तु को छोड़कर नयी वस्तु ग्रहण कर लेने पर ग्रहण कर्ता को कुछ भी कष्ट नहीं होता इसी प्रकार जीवात्मा एक के पश्चात् दूसरी, दूसरी के पश्चात् तीसरी, तीसरी के पश्चात् चौथी, इसी प्रकार अनेक योनियों में भटकता रहता है। मूर्ख इस परिवर्तन से भले ही मोह को प्राप्त हो जायँ, किन्तु ज्ञानी तो इस देह के परिवर्तन को अपरिहार्य अनिवार्य मानता है। देह के परिवर्तन से आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। क्योंकि वह तो अपरिवर्तनशील है।

छप्पय

वस्त्र पुरातन त्यागि नये पहिने जैसे नर।
फैंकै ज़ीरन समुझि पहिन नूतन पट मनहर॥
जीवात्मा त्यौं त्यागि पुराने देहनि जावै।
एक त्यागि कें जाइ नये में पुनि घुसि जावै॥
नये वस्त्र मिलि जाइँ जब, रोवत नहिँ तजि पुरातन।
नाशवान तन सबहिँ ये, जीवात्मा तो सनातन॥

आत्मा शुद्ध सनातन है

[१२]

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥*

(श्री भग०गी०, २ अ०, २३, २४ श्लो०)

छप्पय

कटै न आतमा कबहुँ चाहि कांटो शस्त्रनितैं ।
है अकाट्य सिद्धान्त मरै नहिं यह अस्त्रनितैं ॥
अगिनी चाहैं क्रोध करैं सब शक्ति लगावैं ।
परि आतमा कूँ विविध युक्ति करि नहीं जरावैं ।
तीनि काल मैं आतमा, गरै न जल जितनों भरै ।
वायु सुखावै नहिं कबहुँ, जतन शक्ति भरि भल करै ॥

---

* इस आत्मा को शस्त्र छेदन नहीं कर सकते। अग्नि जला नहीं सकती। जल इसे गला नहीं सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती ॥२३॥

यह जो आत्मा है, शस्त्र द्वारा छेदन नहीं हो सकती। जलायी नहीं जा सकती, गलाई नहीं जा सकती, सुखाई नहीं जा सकती। यह आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन है ॥२४॥

यह जो हमें जगत दिखायी देता है, इसे प्रपञ्च कहते हैं। प्रपञ्च का अर्थ है भली प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँचों वस्तुओं से निर्मित, दृश्य जगत को कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो इन पाँचों से निर्मित न हो, जिसमें इन पाँचों वस्तुओं का समावेश न हो। अपने शरीर को ही ले लीजिये इसमें चर्म, नख, हड्डी, मांस, मल आदि पार्थिव हैं। स्वेद-पसीना-मूत्र कफ आदि जलीय अंश हैं। पित्त, उष्णता आदि अग्नि के अंश हैं। दश भाँति के प्राण, वात आदि वायु के अंश हैं, आकाश तो सर्व व्यापक है ही। आकाश-अवकाश न हो तो ये देह आदि रहें ही कहाँ। मुख के, उदर में, नस नाड़ियों में सम्पूर्ण शरीर में आकाश है। ये पंचभूत उत्पन्न होते हैं। विलीन होते हैं, अतः इनसे निर्मित जो भी वस्तु होगी वह नाशवान् होगी। ये भौतिक पदार्थ ही एक दूसरे का विनाश करने में समर्थ होते है। जैसे पेड़ की डाली है या कोई भी पार्थिव शरीर है, उसे लोह आदि धातुओं से बने अस्त्र-शस्त्र काट सकते है। सब पार्थिव वस्तुओं को जल गला सकता है, अग्नि जला सकती है; वायु सुखा सकती है। तात्पर्य यह है, कि देह से ही देह उत्पन्न होती है और देहों के द्वारा ही देहों का विनाश होता है। आत्मा प्रपञ्च से परे है अतः पंचभूत निर्मित कोई वस्तु उसे क्षति नहीं पहुँचा सकती।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने शरीर की वस्त्रों के साथ उपमा देकर नर की देही के साथ तुलना की तब यह प्रश्न स्वाभाविक उठ सकता है, कि जैसे पुराने वस्त्र नष्ट हो जाते हैं वैसे ही वस्त्रों को पहिनने वाला पुरुष भी तो एक दिन नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार शरीर का नाश तो हो ही जाता है, उसके साथ में शरीरी का भी नाश हो जाता

है क्या ? इस शंका के निवारणार्थ फिर आत्मा के अज, नित्य तथा शाश्वत रूप को दुहराते हुए बताते हैं कि इस आत्मा को पृथिवी से बने धनुष, बाण, खड्ग तथा अन्यान्य विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्र काटना चाहें तो काट नहीं सकते। जल अपनी पूरी शक्ति लगा दे तो भी अन्य भौतिक वस्तुओं की भाँति आत्मा को गला देने में समर्थ नहीं। अग्नि सब को जला देने में समर्थ है, प्रचंड अग्नि जल को भी जला देती है, किन्तु कैसी भी अग्नि हो, आत्मा को जला ही नही सकती। वहाँ तक उसकी शिखाओं की लपटों की पहुँच ही नहीं। इसी प्रकार वायुदेव चाहें कि हम गीली से गीली वस्तु को सुखाने में समर्थ है, आत्मा को भी सुखा देंगे, तो उनका यह प्रयास सफल नहीं हो सकता। वायु द्वारा आत्मा का सुखा देना तो पृथक रहा उनका स्पर्श भी नहीं कर सकता। अब रह गया आकाश सो आकाश तो स्वयं कोई क्रिया करता नहीं, उसके आश्रय से ही जगत् कार्य होता है, फिर भी आकाश सनातन तो नही अनादि तो नहीं, वह सृष्टि के साथ उत्पन्न होता है, प्रलय के साथ विलीन हो जाता है, वह चाहे कि अपने साथ आत्मा को भी विलीन कर ले तो वह ऐसा कर नही सकता। क्योंकि जैसे आत्मा पार्थिव पदार्थों द्वारा छेदन न होने से अछेद्य है। अग्निदेव के द्वारा दहन न किये जाने के कारण 'अदाह्य' है जल द्वारा गलाई न जाने के कारण अक्लेद्य है और वायु द्वारा सुखाई न जाने के कारण अशोध्य है वैसे ही आकाश द्वारा प्रलय के समय साथ ही साथ उसे समाप्त न करने से आत्मा सनातन है। अनित्य पार्थिव पदर्थों से विलक्षण होने के कारण यह सदा सर्वदा एक रस रहने के कारण नित्य कहलाता है। यह किसी एक देश में एक पिंड में एक ब्रह्माण्ड मे ही न रह कर सर्वत्र व्याप्त है। अतः

सर्वगत कहलाता है। इस जगत के जितने पदार्थ हैं सब गतिशील तथा परिवर्तनशील हैं, सब किसी न किसी प्रकार चलते रहते हैं, सब किसी न किसी रूप में बदलते रहते हैं, किन्तु आत्मा कहीं चलता नहीं। चले भी कहाँ जहाँ न हो वहाँ जाय, यह तो सर्वगत है सर्वत्र व्याप्त है अतः हिलना डुलना भी चाहे तो कहाँ हिले डुले। वह अविचल भाव से अवस्थित है। यह भी कहना बनता नहीं, क्योंकि पार्थिव वस्तु आकाश में अवस्थित हैं। उसके भीतर भी आकाश एक बीच में व्यवधान मात्र है। जैसे घड़े के भीतर भी आकाश है, और स्वयं आकाश में स्थित भी है। घड़े के फूट जाने पर घड़े का आकाश दौड़कर महाकाश में विलीन नहीं होता। घड़े के हट जाने से उसका अन्तराय हट गया। किन्तु इस आत्मा में तो किसी प्रकार का, किसी वस्तु का व्यवधान ही नहीं। यह तो व्यवधान से रहित स्थाणु और अचल भाव से सदा सर्वदा एक रस अवस्थित है। इसीलिये यह सनातन है, नवीन नहीं युवा नहीं, वृद्ध नहीं। बस, जैसे का तैसा है, जैसे का तैसा बना अवस्थित है और अनन्त काल तक जैसे का तैसा ही बना रहेगा।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! बार बार एक ही बात को दुहराने में क्या लाभ एक बार कह दिया कि यह पार्थिव पदार्थों की भाँति जन्म मरण से रहित नित्य है। एक ही बात को फिर घुमा फिरा कर कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! एक बात को बार-बार कहने का नाम ही तो कथा है, पुनरावृत्ति का नाम ही तो इतिहास है। बात तो इतनी ही है, भगवान् हैं, दृश्य प्रपञ्च मिथ्या है। इसी का तो समस्त शास्त्रों में विस्तार है। हम नित्य एक ही बात को तो पुनरावृत्ति करते रहते हैं। नित्य एक ही आकाश में स्थित रहते हैं सूर्य चन्द्र नित्य ही समय से उदय अस्त होते

हैं, नित्य ही हम एक ही वायु में श्वास प्रश्वास लेते हैं। एक ही जल को दिन में अनेक बार पीते रहते है। एक ही पृथिवी के चने, गेहूँ, चावल, दाल, साग को नित्य नित्य खाते रहते हैं। नित्य खाने पर भी तृप्ति नहीं होती। तृप्ति तभी होगी जब ये सब व्यापार बन्द हो जायँगे, किन्तु जीवन धारण के निमित्त ये काम बारम्बार करने पड़ते हैं जब तक पूर्ण ज्ञान नहीं होता जब तक आत्मा के यथार्थ रूप का ज्ञान नहीं होता, तब तक ये ही बातें बारम्बार सुननी पड़ेगी। देह के प्रति जब तक ममता है, देही का जब तक पूर्ण बोध नहीं होता तब तक जितने भी जन्म धारण करने होंगे ये ही बातें सुननी होंगी। जहाँ देह देही का विभाग समझ में आ गया। देह की अनित्यता तथा देही की नित्यता हृदय में बैठ गयी, तहाँ दुःख, सुख, शोक, मोह, विषाद, चिन्ता, कहना सुनना सभी समाप्त हो जायगा। योनि चाहे चींटी की हो या इन्द्र की हो, सभी दुःखालय हैं सभी शोक मोह का घर है। आत्मा अचल है सनातन है जिस योनि में भी यह यथार्थ ज्ञान हो गया वहीं बेड़ा पार है।

एक बार स्वर्ग लोक से एक चीटियों का झुंड आ रहा था, कुछ चीटी उधर जा रही थीं। चींटी जब चलती हैं, तो पंक्ति बद्ध चलती हैं। कुछ जाती रहती है और कुछ आती रहती हैं। जाने वाली आने वालियों से नमस्कार प्रणाम करती हैं, मुँह से मुँह मिला कर अभिवादन करती हैं अपनी भाषा में कुशल क्षेम पूछती हैं फिर नमस्कार करके चली जाती है। एक चींटा उधर से आ रहा था एक चींटा इधर से जा रहा था। जाने वाले चींटा ने आने वाले चींटा का अभिवादन किया। वह खड़ा हो गया। उसने इसके अभिवादन का उत्तर नहीं

दिया। तब जाने वाले चींटे ने आने वाले चींटे की ओर ध्यान से देखा वह रो रहा था।

इस चींटे ने पूछा—"भाई साहब! क्यों रो रहे हो?"

उसने कहा—भाई, आज मैं अत्यन्त ही दुखी हूँ। मेरे दुःख का वारापार नहीं।"

इस चींटे ने कहा—"दुःख का कारण तो बताओ। परस्पर में दुःख सुख कहने से शांति मिलती है, दुःख सुख बँट जाता है। संसार का व्यवहार परस्पर के सहयोग से चलता है।"

उस चींटा ने कहा—क्या कहूँ भाई साहब! आप तो जानते ही हो, मैं इससे पिछले जन्म में इन्द्र था। इसी स्वर्ग में राज्य करता था। इन्द्र पद परिवर्तनशील है, एक इन्द्र चला जाता है, दूसरा इन्द्र उसके स्थान आ जाता है, किन्तु इन्द्राणी एक ही रहती है जो इन्द्र आ जाता है, उसी की वह इन्द्राणी बन जाती है।

"यह इन्द्राणी पहिले मुझसे अत्यन्त स्नेह करती थी। बारबार कहती थी तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारे हो तुम्हारे बिना मैं रह नहीं सकती। तुम्हारे स्पर्श के अतिरिक्त किसी दूसरे का स्पर्श कर नहीं सकती।" मैं भी इससे अत्यधिक स्नेह करता था। काल क्रम से मेरा इन्द्र काल समाप्त हुआ। मैं चींटा बन गया अब यह दूसरे इन्द्र की इन्द्राणी हो गयी। आज मैं इसके पास गया। इसके शरीर पर ज्यों ही चढ़ने लगा, इसने मुझे उठाकर दूर फेंक दिया, फिर चढ़ने लगा फिर फेंक दिया ऐसे कई बार जब फेंका गया तब मैंने इसे अपना परिचय दिया तब इसने कहा—"देखो, शरीर परिवर्तन से सम्बन्ध भी परिवर्तित हो जाता है, भाव भी परिवर्तित हो जाते हैं जिस समय तुम इन्द्र थे उस समय आप और थे, अब उन बातों को दूर

जाओ। अब किसी चीटी से जाकर मित्रता करो। सो भैया! अपने ही स्वजन द्वारा तिरस्कृत होने के कारण मैं रुदन कर रहा हूँ।"

उन दोनों चीटों का सम्वाद लोमश ऋषि सुन रहे थे। उन्होंने उनकी बोली ही में उन्हें समझाया—देखो देह तो अनित्य है अशाश्वत है, देह से जब तक सम्बन्ध रखोगे तब तक क्लेश के ही भाजन बनोगे। देह तो चाहे चीटी का हो या इन्द्र का उसका नाश होगा, देह नाश के साथ पुराने सम्बन्धों का पुराने भावों का भी नाश स्वत: हो जायगा। इन्द्राणी ने जो कुछ कहा ठीक ही कहा। तुम उस अविनाशी, अपरिवर्तनशील, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन, अजर अमर सनातन आत्मा का ज्ञान करो। देह दृष्टि को त्याग दो आत्म दृष्टि को अपनाओ तो दु:ख से तुम सदा के लिये छुटकारा पा जाओगे।"

महर्षि के इस उपदेश से चीटा का अज्ञान नाश हुआ उसे देह की अनित्यता तथा आत्मा की नित्यता तथा सनातनपने का ज्ञान हुआ और वह देह बन्धन से विमुक्त होकर आत्म निष्ठ हो गया।

सूत जी कहते है—सो, मुनियो! बारबार देह की अनित्यता तथा आत्मा की नित्यता का कथन करना ही परमार्थ का अभ्यास है। नित्य के अभ्यास से संसार से वैराग्य होता है। जिससे शम, दम, त्याग, तितिक्षा, उपरति आदि के द्वारा ज्ञान लाभ होता है। इसीलिये भगवान् आत्मा की नित्यता और देह की अनित्यता पर पुन: पुन: बल देते है। आगे भी इसी का पुन: विवेचन करेंगे इसे आप भगवान् के ही शब्दों में सुनिये।

छप्पय

आत्मा नित्य अछेद्य छिद्र कस होवै तामें।
जरिबेवारी नहीं अगिनि का करि है तामें॥
गीली कैसे होहि नीर की पहुँच नहीं है।
सुखवै कैसे वायु सूखनों बनत नहीं है॥
शुद्ध बुद्ध है आतमा, नित्य सर्वव्यापी अचल।
सदा एकरस सनातन, थिर अभेद है सबहिँ थल।

आत्मा अचिन्त्य है

[१३]

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० २५, २६ श्लो०)

छप्पय

आत्मा है अव्यक्त व्यक्त फिरि कैसे होवै।
आत्मा एक अचिन्त्य व्यरथ फिरि तू क्यों रोवै॥
जामें नहीं बिकार फेरि कैसे मरि जावै।
अजर अमर जो वस्तु मृत्यु ता ढिंग नहिँ आवै॥
अमर आतमा समुझि कैं, शोक मोह कूँ छांरि तू।
निरमय ह्वैकें समर करि, ममता तें मुख मोरि तू॥

---

* यह आत्मा अव्यक्त है, अचिन्त्य है, विकार रहित है ऐसा मनीषी कहते हैं, इसलिये इस आत्मा को तू ऐसा जानकर शोक करना छोड़ दे। इसके लिये शोक करना उचित नहीं ॥२५॥

मान लो तुम इसे नित्य जन्मने तथा नित्य मरने वाला ही समझते हो, तो भी हे महाबाहो! तुम्हें इस भाँति सोच करना उचित नहीं है ॥२६॥

जब हमें किसी के शोक को दूर करना होता है, तो उसे सब प्रकार से समझाते है। जिस रीति से भी वह समझे भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन करके उन मतों द्वारा भी उन्हें शोक करने से रोकते है। एक 'तुष्यतु दुर्जन न्याय, होता है, उसमें हम पूर्व पक्ष उठाकर प्रतिपक्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, नाना युक्तियाँ देकर कहते है मान लो-यह ही वात सत्य सही, तो भी इस सिद्धान्त को मान लेने पर भी तो आप जिस हठ पर अड़े हैं, उसकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती। "तुष्यति दुर्जन न्याय" सिद्धान्त नहीं है विधि नहीं है। यदि दुर्जन लोग इसी वात से सन्तुष्ट होते हैं तो थोड़ी देर के लिये हम इस वात को भी माने लेते हैं, किन्तु इस बात के मान लेने पर भी तो तुम्हारी हठ की वात यथार्थ प्रतीत नहीं होती। नाना युक्ति वादों मे वही समझा सकता है, जो उस सिद्धान्त का पारदर्शी गुरु हो। और उसी जिज्ञासु को समझा सकता है, जो हृदय से यह कह कर शरण में आया हो कि मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, मेरी रक्षा करो; मेरे संशयों को दूर करो मैं तुम्हारे प्रपन्न हूँ, तुम्हारी शरण में आ गया हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण सर्वज्ञ पारदर्शी सच्चे सद्गुरु नारायण थे और अर्जुन सच्चे शरणागत वास्तविक प्रपन्न यथार्थ जिज्ञासु नर थे। उन्ही के द्वारा इस गीता ज्ञान की सुरसरि प्रवाहित हुई है।

सूत जी कहते है—"मुनियो! जब भगवान् ने आत्मा को शुद्ध सनातन सिद्ध किया अर्जुन के मन में यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है ऐसा आत्मा दिखायी तो देता नही, उसका चिन्तन हम कैसे करें।

इसीलिये भगवान् कहते हैं—देखो, भैया! जो वस्तु इन्द्रियों द्वारा ग्रहण की जाती है, उसे ही व्यक्त कहते है। जैसे यह पुष्प सफेद हैं हम कैसे जानें हमारी चक्षु इन्द्रिय ने उसके सफेदपन

को देखा है यह सुगन्धि युक्त है, दुर्गन्धि युक्त है, इसे आँखें तो देख नहीं सकती, इसकी अनुभूति घ्राणेन्द्रिय ने व्यक्त की है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों को समझ लो। व्यक्त का अर्थ है प्रत्यक्ष होना इन्द्रियों द्वारा उसकी अनुभूति होना। व्यक्त वह होता है, जो हमसे पीछे उत्पन्न हुआ हो। माता के पश्चात् ही पुत्री का व्यक्तित्व प्रकट हुआ अर्थात् उसका जन्म हुआ। उस लड़की से भी जो लड़की हुई उसके जन्म को उसकी माँ ने भी देखा और नानी ने भी देखा। किन्तु उस प्रकट हुई लड़की ने न अपनी माता का विवाह देखा न नानी का विवाह देखा। हाँ और लड़कियों का विवाह देखते-देखते वह अनुमान लगा सकती है, कि ऐसे ही संभवतया मेरी माता का तथा नानी का भी विवाह हुआ होगा। व्यक्ति का प्रत्यक्ष या साक्षात्कार इन्द्रियों द्वारा होता है, किन्तु आत्मा तो इन्द्रियों से भी परे है। उनसे बहुत पुराना है, अत: वह अव्यक्त कहलाता है। आत्मा में शब्द नहीं, रूप नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं और स्पर्श नहीं फिर इन्द्रियाँ इसे कैसे प्रत्यक्ष कर सकती है इसीलिये आत्मा को अव्यक्त कहा गया है।

अच्छा मान लो प्रत्यक्ष न सही; अनुमान से हम चिन्तना तो कर सकते हैं। अनुमान लगा लिया जाता है। जैसे और लड़कियाँ हमारे देखते-देखते लड़की से युवतियाँ हो गयीं उनका विवाह हो गया उनके बच्चे हो गये। ऐसे ही हमने प्रत्यक्ष तो देखा नहीं, किन्तु अनुमान से कहते हैं, हमारी नानी भी कभी लड़की रही होगी, वह भी युवती हुई होगी, उसका भी विवाह हुआ होगा, उसी से मेरी माँ का जन्म हुआ होगा और उस माँ से भी मेरा जन्म हुआ होगा। ये सब बातें अनुमान से चिन्तन करने से सिद्ध हुई हैं। जैसे इन्द्रियों द्वारा व्यक्तित्व व्यक्त होता है वैसे ही अनुमान द्वारा अनुमेय चिन्त्य

हो जाता है, सो यह आत्माचिन्त्य भी नहीं। धूम को देखकर अग्नि का अनुमान वही कर सकेगा जिसने इसके पहले अग्नि से धूम निकलते हुए प्रत्यक्ष देखा होगा। वही अनुमान लगा सकता है, कि जहाँ धूआँ उठ रहा है वहाँ अग्नि भी होगी ही किन्तु इस आत्मा का अनुमान अन्तःकरण कैसे कर सकता है क्योंकि आत्मा अनुमान का विषय ही नहीं। क्योंकि जिस वस्तु का प्रत्यक्ष ही नहीं है। उसमें व्याप्ति का ग्रहण करना असम्भव है। व्याप्ति समान धर्म को कहते हैं जैसे हमने कहीं पहले धूम सहित अग्नि देखी है तब यह व्याप्ति लगा लेंगे कि जहाँ-जहाँ धूआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है। जब आत्मा को देखा ही नहीं तो उसमें व्याप्ति कैसे लगाओगे वह चिन्त्य कैसे होगा। इसीलिये अव्यक्त होने के साथ आत्मा अचिन्त्य भी है।

अच्छा कहते हैं अनुमान से न सही कल्पित वस्तु द्वारा हम कल्पना कर सकते हैं। तो कहते हैं कल्पना भी तो किसी आधार पर ही की जाती है, प्रकृति को भी अव्यक्त कहते हैं, वह अचिन्त्य भी है, किन्तु कल्पना तो उसकी कर ही लेते हैं। इस पर यही कहा जा सकता है, कि प्रकृति में भी तो विकार होता है। अन्तःकरण, इन्द्रियाँ ये सब प्रकृति की ही तो विकृति है, किन्तु आत्मा तो निर्विकार है, अतः इसीलिये अव्यक्त अचिन्त्य के साथ ही साथ आत्मा अविकार्य भी है। इस प्रकार वेदादिसत् शास्त्रों में ऐसे इसके रूप का केवल वर्णन मात्र है। वेदादि भी यथार्थ रूप में इसका वर्णन करने में असमर्थ है। वह भी अन्वय और व्यतिरेक के ही द्वारा दूर-दूर से इसका वर्णन करते हैं। आत्मा का ऐसा विलक्षण रूप है, कि शब्दों द्वारा उसे व्यक्त करना असंभव है वेदादिशास्त्र भी नित्य, सर्वगत, अचल, सनातन, अव्यक्त अचिन्त्य तथा निर्विकार ऐसे ही शब्दों द्वारा इसका परिचय देते हैं, आत्म

को अविनाशी बताते हैं। जब आत्मा अविनाशी है, तो फिर तुम क्यों व्यर्थ में सोच कर रहे हो कि इनके मारे जाने पर यह पाप लगेगा, यह दोष होगा, आत्मा तो न जन्म लेता है न मरता है वह तो जनम-मरण से रहित है।

अच्छा, थोडी देर के लिये मान लो कुछ लोग कहते है यह आत्मा भी शरीर के साथ जन्म लेता है, शरीर के साथ मर जाता है तो इसमें भी सोच करने का कोई कारण प्रतीत नही होता। जो लोग आत्मा को अजर अमर नित्य सनातन नहीं मानते उनमें से कोई तो कहते हैं—आत्मा ज्ञान स्वरूप तो, है परन्तु प्रत्येक क्षण में नष्ट होने वाला है। कुछ कहते हैं आत्मा कोई देह से भिन्न नहीं है देह ही आत्मा है वह क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होता है और उत्पन्न भी होता है नष्ट भी होता है। कुछ लोग कहते है देह आत्मा एक नहीं है। आत्मा देह से सर्वथा पृथक है, तो भी जब देह उत्पन्न होता तो आत्मा की भी उत्पत्ति होती है, देह के नष्ट होने पर आत्मा का नाश हो जाता है। कुछ कहते है आत्मा सृष्टि के आरंभ में जैसे आकाश उत्पन्न होता है वैसे ही उत्पन्न होता है और कल्प के अन्त में, प्रलय में, आकाशादि के साथ ही साथ नष्ट हो जाता है। कोई इसकी नित्यता को स्वीकार करते हुए भी उसे जन्म मरण से रहित नहीं मानते। इस प्रकार वे लोग आत्मा को नित्य, शुद्ध बुद्ध सनातन न मानकर जन्म मरणशील मानते हैं।

भगवान् कहते हैं—"अच्छा मान लो; । आत्मा नित्य उत्पन्न होने वाला और नित्य मरने वाला शरीर के ही समान समझते हो, तो भी सोच करने का कोई कारण प्रतीत नही होता। जब वह मरणधर्मी ही है तो मृत्यु अवश्यम्भावी है, अवश्यम्भावी वस्तु के लिये सोच करना मूर्खता है।

शौनक जी ने पूछा—सूतजी ! मृत्यु अवश्यम्भावी अवश्य है, किन्तु जो समय मरने का नहीं है, उस समय कोई मर जाय, तो दुःख तो होता ही है ।

सूत जी ने कहा—असमय में कोई मरता ही नहीं। सबकी मृत्यु समय आने पर ही होती है ।

शौनक जी ने कहा—तब अकाल मृत्यु का अर्थ क्या हुआ? उनकी अकाल में ही मृत्यु हो गयी । जल में डूबने से, सर्प के काटने से, पेड़ से या छत से गिरने से अग्नि में जल जाने से आदि कारणों से अकाल मृत्यु कही गयी है । जब सब काल में ही मरते हैं, तब १०० प्रकार की अकाल मृत्युओं का वर्णन क्यों है ?

सूत जी ने कहा—महाराज ! अकाल मृत्यु का अर्थ इतना ही है, कि अभी इसके मरने का समय नहीं था । वैसे सब की मृत्यु चाहे काल में हो या अकाल में, पहिले निश्चित रहती है । जो सर्प से काटा जायगा, पानी में डूबकर मरेगा, यह भी पहिले से ही प्रारब्ध के अनुसार निश्चित रहता है । मृत्यु तो निश्चित समय से ही होती है, जो वृद्धावस्था प्राप्त करके मरते हैं उनके लिये लोग कह देते हैं—उनके मरने का तो समय ही था, अच्छा हुआ मर गये अधिक जीते तो दुःख ही पाते । जो वृद्ध नहीं हुए हैं, किसी दुर्घटना में मर गये हैं उनके लिये कहते हैं—अभी उनके मरने का समय थोड़ा ही था, अकाल में ही बेचारों की मृत्यु हो गयी । वैसे उनकी मृत्यु दुर्घटना से होगी यह बात पहिले से ही निश्चित थी । जब सबकी मृत्यु निश्चित है और सभी को निश्चित समय आने पर निश्चित रूप से मर ही जाना ही तो मरने वालों के प्रति अत्यन्त शोक करना अज्ञानता ही है । इस विषय में पुराने लोग एक दृष्टान्त दिया करते हैं—

प्राचीन काल में उशीनर देश में एक सुयज्ञ नाम का

बड़ा ही धर्मात्मा प्रजावत्सल सर्व सद्गुण सम्पन्न राजा था। एक बार वह सेना सजाकर शत्रुओं से संग्राम करने समर-भूमि में गया। वहाँ वह शत्रुओं द्वारा मारा गया। राजा का मरण सुनके उसके बन्धु-बान्धव एकत्रित हो गये। उसकी रानियाँ शोक में व्याकुल होकर छाती पीट-पीटकर रोने लगीं। रानियाँ मृतक राजा के शरीर को घेरकर बैठ गयी। अन्य लोग शरीर का दाह संस्कार करना चाहते थे, किन्तु वे रानियाँ उस शरीर को उठाने ही नहीं देती थी। उसी समय यमराज एक छोटे से बालक का रूप रखकर, वहाँ आये और सबको सुनाते हुए अपने आप ही कहने लगे।

देखो, कितने आश्चर्य की बात है, ये लोग मुझसे अवस्था में बूढ़े हैं, नित्य ही लोगों को मरते देखते हैं, फिर भी मृतक के लिये शोक करते हैं। अरे, यह प्राणी जहाँ से आया था, वहाँ चला गया, जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा ही इसके लिये ये इतना शोक क्यों कर रहे है। क्या ये शोक करने वाले सदा जीते ही रहेंगे। इन्हें भी तो एक न एक दिन मरना ही है। मैं तो अभी अबोध बच्चा हूँ, माता-पिता भाई-बन्धु मेरा कोई है नहीं जंगल में अकेला विचरता रहता हूँ, जब तक मेरा काल नहीं आता कोई सिंह व्याघ्र मुझे खा नहीं सकता। इसीलिये मैं सिंह भेड़ियों से डरता नहीं।

रानियों ने जब नन्हे से छोटे बच्चे की ये बातें सुनी तो उन्होंने कहा—बच्चे! तू समझता नहीं। ये हमारे प्राणनाथ थे इनके बिना हम विधवा हो गयी। ये मर गये। इनके बिना हम कैसे जियेंगी।

बच्चे ने कहा—ये चले कहाँ गये? ये तो तुम्हारे सामने ही पड़े हैं।'

रानियों ने कहा—यह तो मृतक शरीर है। इसमें से हंसा तो उड़ गया खाली उसके रहने का यह पिंजड़ा पड़ा है। जीवात्मा तो चला गया।

बालक ने कहा—तब जीवात्मा ही मर गया है, शरीर तो ज्यों का त्यों ही है।

रानियों ने कहा—जीवात्मा तो कभी मरता नहीं। आत्मा तो अजर अमर है।

बालक ने कहा—और शरीर?

रानियों ने कहा—"भैया, शरीर तो क्षणभंगुर है। पानी के बुदबुदों के समान है, जीवात्मा के बिना शरीर तो व्यर्थ है। वह तो नाशवान् है ही।"

बालक ने कहा—नाशवान है तो उसका नाश हो गया। मरणशील की मृत्यु हो गयी तब फिर तुम शरीर के लिये सोच क्यों करती हैं। रही आत्मा सो वह शुद्ध बुद्ध अजर अमर तथा जरामृत्यु से रहित है यह न कभी जन्म लेता है और न मृत्यु के ही चंगुल में फँसता है। जब वह मरता ही नहीं तो अमर के लिये क्या शोक? मोह? और जिसका नाश अवश्यम्भावी है उस शरीर के लिये भी निष्प्राण होने पर क्या शोक? इसलिये न तो तुम लोगों को शरीर दृष्टि से ही सोच करना चाहिये और न आत्म दृष्टि से ही सोच करना चाहिये।"

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! बालक बने यमराज के वचनों से उन रानियों का शोक दूर हो गया और वे राजा के मृतक शरीर से जो बारम्बार लिपट-लिपटकर रो रही थीं, उससे वे पृथक हो गयीं। तब बन्धु-बान्धवों ने राजा के मृतक शरीर का संस्कार किया।

भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी अर्जुन से कह रहे हैं, हे पार्थ, तुम्हें किसी भी प्रकार मृतकों का तथा मरने वालों का शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि जन्म लेने वालों की मृत्यु तो ध्रुव ही है, इसका विवेचन आगे करेंगे।

छप्पय

अच्छा, तू यदि जाइ जनमिवे वारो जान।
नित नित होवे जनम मरै पुनि पुनि यदि मानें॥
तोऊ नहिँ कछु हानि सोच को काम न भाई।
जो जनम्यो है जीव अवसि सो तो मरि जाई॥
जनम मरनको चक्र जिहू, लग्यो रहै जगमें सतत।
टारि न नर बाँकू सकै, ताको सोच न बुध करत॥

जिसने जन्म लिया है वह मरेगा भी

[१४]

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

जनम संग ही मृत्यु बुलाये बिनु ही आवे।
लीयो जाने जनम अवसि ही सो मरि जावे॥
जो मरि जावे, जीव जनम ताको पुनि होवे।
जनम और यह मृत्यु संग ही संग में सोवे॥
यह निश्चित सिद्धान्त है, का झूठी होवै कहीं।
निरुपाय जो विषय है, सोच जोग सो है नहीं॥

इस भूलोक को मर्त्य लोक कहते भुवः स्वर्ग, महः जनः तप और सत्य आदि जो ऊपर के लोक हैं, इनमें मृत्यु नहीं होती है।

---

* क्योंकि जो जन्मता है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जो मरता है, उसका जन्म लेना ध्रुव है। इसलिये जो अपरिहार्य है, उस विषय में शोक करना उचित नहीं ॥२७॥

हे अर्जुन ! देखो सभी प्राणी पहिले अव्यक्त (न दीखने वाले)

पुण्यक्षीण होने पर उन्हें गिरा देते है। मृत्यु केवल इसी लोक में होती है। मृत्यु जन्म के साथ ही साथ निश्चित रूप मे उत्पन्न हो जाती है, जो जनमा है, उसे निश्चय ही मरना पड़ेगा और जो मरा है, उसे जन्म लेना ही पड़ेगा। इस पर शंका होती है, कि तब तो संसार में सभी को जन्म लेना पड़ेगा, मुक्ति किसी की हो ही नहीं सकती। कैसा भी ज्ञानी जीवन मुक्त हो, मृत्यु तो उसकी भी होती है; जब मृत्यु होती है, तो फिर उसे जन्म भी लेना चाहिये इस सिद्धान्त से तो कभी किसी की मुक्ति संभव ही नहीं। इस पर कहते हैं—मृत्यु तो अज्ञान का ही चिन्ह है, अज्ञानी की ही मृत्यु होती है, वही मृत्यु के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है। आत्मज्ञानी तो मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह तो मृत्यु को तर जाता ज्ञानी की मृत्यु होती ही नहीं। जब उसकी मृत्यु ही नहीं तब जन्म का प्रश्न ही नहीं होता। अज्ञान के नाश का नाम ही मुक्ति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने "तुष्यति दुर्जन" न्याय से आत्मा को नित्य जन्म मरण शील स्वीकार करके यह सिद्ध किया कि चाहे आत्मा को तुम अजन्मा मान लो चाहे जन्म मृत्यु वाला मान लो दोनों ही प्रकार से तुम्हे इसके लिये शोक नहीं करना चाहिये। इसी बात को पुष्ट करते हुए कहते हैं—देखो, जिसने जन्म लिया है, उसे मरना अवश्य पड़ेगा और जो मरा है उसे जन्म भी लेना पड़ेगा। यह सिद्धान्त अपरिहार्य है, निर्व्यलीक है, दृढ़ है, निश्चित है, अटल है इसमें फेर

होते हैं बीच में व्यक्त (प्रकट) हो जाते हैं। मरने के पश्चात् फिर अव्यक्त हो जाते हैं, जब यह नियम ही है तो फिर चिन्ता क्या करनी ॥२८॥

फार नहीं हो सकता। जन्मने वाला चाहे कि हम मृत्यु की चपेट से बच जायँ, तो उसकी मूर्खता है, जन्म के साथ ही साथ मृत्यु लगी हुई है। जब यह निश्चित ही, मत है, इसमें परिवर्तन संभव ही नहीं तो फिर मृत्यु के लिये सोच करना पागलपन है।"

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने मरने वाले के लिये सोच करना एक प्रकार का भ्रम या अज्ञान ही बताया। वास्तव में कौन किसे कोई मारता है और कौन मरता है प्राणी अपने कृत कर्मों का फल भोगने को जन्म लेता है उन कर्मों के भोग समाप्त होने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। जन्म और मृत्यु का काल निश्चित है। निश्चित समय पर जन्म होता है और निश्चित काल पर ही मृत्यु हो जाती है। सूर्य निश्चित समय पर उदय होते हैं। निश्चित समय पर अस्त होते हैं। अस्त होते समय तुम रुदन करो कि हाय हायरे सूर्य क्यों अस्त हो रहे हैं। अभी इन्हें अस्त नहीं होना चाहिये, अभी तो हमें बहुत सा काम है।" आपके चाहें लाख काम पड़े रहें, सूर्य तो अपने समय से अस्त हो ही जायँगे। अथवा सूर्य न अस्त होते हैं न उदय। सूर्य तो सदा बने रहते हैं, भ्रम वश-छाया के कारण भ्रान्ति से लोग उनमें उदय और अस्त का अध्यारोप करते हैं। मानलो अस्त भी होते हैं, तो यह तो उनका नित्य का दैनिक कार्य है अपरिहार्य है उसके लिये चिन्ता शोक मूर्खता ही है। इस विषय में एक दृष्टान्त है।

किसी नगरी में एक बहुत भारी धनी सेठ रहते थे। उनके धन तो अपार था, किन्तु कोई सन्तान नहीं थी। पुत्र के लिये उन लोगों ने बहुत सा दान पुण्य किया यज्ञ याग कराये। किसी सन्त की कृपा से उनके एक पुत्र रत्न पैदा हुआ। उसका पा

उन्होंने अत्यंत ही लाड़ चाव से किया। जब वह १८ वर्ष का हो गया, तो उसका विवाह अपने एक सजातीय धनिक की कन्या से कर दिया। लड़की वाला सेठ इनसे भी अत्यधिक धनी था, उसकी कन्या अपसरा के समान अत्यंत सुन्दरी थी। बड़ी धूम धाम से विवाह हो गया। विवाह के पश्चात् लडके के माता-पिता मर गये। अब वह और उसकी पत्नी दो ही रह गये। कालान्तर में उसकी पत्नी गर्भवती हुई। जब गर्भ का बालक ७-८ महीने का ही था, तभी उसके पति का देहान्त हो गया। इतने भारी सेठ की लडकी, इतनी भारी संपति की स्वामिनी घर में अकेली ही विधवा रह गयी। लोगों के समझाने बुझाने पर उसने धैर्य धारण किया, वह अपने पति के साथ सती हो जाना चाहती थी। किन्तु गर्भस्थ बालक का ध्यान करके वह सती नहीं हुई। समय पूरा होने पर उसके गर्भ से एक बहुत सुदर पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्र का पालन वह बड़े ही प्रेम से करने लगी। जैसे आँखों की पलकें पुतली की रक्षा करती हैं, ऐसे वह सदा सर्वदा अपने पुत्र की रक्षा करती। एक पल को भी उसे अपने से पृथक् न होने देती। अत्यंत लाड़ प्यार से पला वह पुत्र भी जब उसकी अवस्था ५ वर्ष की थी। एक दिन अकस्मात् मर गया। अब माता की कैसी दशा हुई होगी इसका अनुमान मुक्त भोगी ही लगा सकते हैं। माँ पगली हो गयी। पुत्र को छाती से चिपटाये इधर उधर पगलों के समान फिरने लगी। सबसे कहती—मेरा सर्वस्व ले लो परन्तु कोई मेरे पुत्र को जीवित कर दो। जो जितना चाहेगा उसे मैं उतना धन दे दूंगी। मेरी अरबों खरबों की सम्पति है। मैं उसमें से एक पैसा भी न लूंगी। मेरे पुत्र को जो जिला देगा, उसी को मैं अपनी चल अचल सम्पत्ति दे दूंगी, मैं स्वयं भीख माँग कर निर्वाह कर लूंगी। कोई मेरे पुत्र को

जीवित कर दे।" किन्तु किसी को सामर्थ्य नहीं थी। कि मृतक को जीवित बना दे।

उन्हीं दिनों उस विधवा के गाँव के पास में ही एक छोटी सी राजधानी में एक बड़े भारी नामी सन्त महात्मा आये हुए थे। सहस्त्रों लक्षों नर नारी उनके दर्शनों के लिये जाते थे किसी ने उस विधवा को सुझाया—"तू उन महात्मा की शरण में चली जा वे चाहें तो तेरे पुत्र को जीवित कर सकते हैं।"

अर्थी पुरुष दोष नहीं देखता, जहाँ भी उसे अपने कार्य की सिद्धि की संभावना होती है, वहीं दौड़ा चला जाता है। वह पुत्र शोक से पगली हुई विधवा अपने पुत्र के मृत शरीर को लिये हुए उन महात्मा की शरण में पहुँची और अत्यंत ही दीनता से प्रणाम करके बोली—"मैंने आप की बड़ी प्रशंसा सुनी है, मेरे एकमात्र यही एक पुत्र था। मैं अगणित सम्पत्ति की स्वामिनी हूँ, मेरे पास असंख्य द्रव्य है। क्या आप मेरे इस मृतक पुत्र को जीवित कर सकते हैं। मैं अत्यंत ही दुखित हूँ।"

महात्मा ने बिना एक क्षण रुके तुरन्त कहा—हाँ, मैं इसे जीवित कर सकता हूँ, किन्तु तुम्हें एक वस्तु लानी होगी?

विधवा ने पूछा—उस वस्तु के लाने में क्या व्याय होगा? आप जो कहेंगे वही मैं ले आऊँगी। मैं अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति आपके चरणों में अर्पित कर दूँगी आप मेरे पुत्र को जिला दें।

महात्मा ने कहा—"मुझे तुम्हारी सम्पत्ति नहीं चाहिये। मुझे तो तुम कहीं से माँग कर एक मुट्ठी सरसों ला दो। बस, इतने से ही काम चल जायगा।"

विधवा ने कहा—"मेरे यहाँ सहस्रों मन सरसों है, आप जितनी चाहें उतनी मैं मगा दूँ।"

महात्मा ने कहा—तुम्हारे घर की सरसों से काम न चलेगा।

तुम्हें किसी घर से भीख माँगकर लानी होगी। एक घर में न मिली, तो दूसरे घर जाना होगा, दूसरे में न मिली तो तीसरे में। ऐसे गाँव भर में घूमना होगा एक गाँव में न मिली तो दूसरे गाँव में जाना होगा, दूसरे में न मिली तो तीसरे में जाना होगा, ऐसे गाँव-गाँव भटकना होगा।"

उसने दृढ़ता के साथ कहा—"मैंने आज तक कभी किसी से कोई वस्तु माँगी नहीं है। सदा दूसरों को दिया ही है, किन्तु अपने पुत्र के जीवन के लिये सब कुछ करने के लिये उद्यत हूँ। घर-घर जाकर अलख जगाऊँगी, अंचल पसार कर भीख माँगूगी।"

महात्मा जी ने कहा—"अपने पुत्र के मृतक शरीर को यहीं छोड़ जाओ मैं इसकी रक्षा करूँगा।"

उसने कहा—"इसे मैं नहीं छोड़ सकती। इसे लिये-लिये ही भीख माँगूगी।"

महात्मा ने कहा—"अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा।" इतना कहकर वह पुत्र के मृतक शरीर को लेकर भीख माँगने चलने लगी, तब महात्मा ने कहा—"किन्तु सरसों लाने में एक शर्त है।"

विधवा ने कहा—"वह कौन सी शर्त है?"

महात्मा ने कहा—"सरसों उसी घर की होनी चाहिये जिसमें आज तक कोई मरा न हो।"

वह तो पुत्र शोक से पगली बनी हुई थी, उसने कहा—"अच्छी बात है मैं ऐसे ही घर से लाऊँगी।" यह कहकर वह द्वार-द्वार पर जाकर रो रो कर भीख माँगने लगी। मुझे कोई मेरे पुत्र के जीवन के लिये एक मुट्ठी सरसों दे दो।"

उसकी करुण पुकार सुनकर सभी अपने-अपने घरों से सरसों

ला लाकर देने लगे। वह कहती—मुझे तो केवल एक मुट्ठी चाहिये। तब लोग मुट्ठी भर कर देते। वह सबसे पूछती 'तुम्हारे घर में कोई मरा तो नहीं।" इसके उत्तर में सब कहती—हमारे घर में तो इसी वर्ष कई मरे हैं। कोई कहता हमारे माता, पिता, भाई सा, सगे सम्बन्धी मरे है। कोई स्त्री रो रो कर कहती मेरे तो बड़े-बड़े आठ पुत्र मर चुके। प्रातःकाल से सायंकाल तक वह घर-घर और गाव-गांव घूमती रही किन्तु उसे ऐसा एक भी घर नहीं मिला जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो। तब वह निराश हो कर महात्मा के पास लौट आई और बोली—"भगवन् ! ऐसा घर तो कोई मिला नहीं जहाँ आज तक कोई मरा न हो।"

तब महात्मा ने कहा—"देवि ! जब सब घरों में आदमी मरते है, तब तुम्हारा ही पुत्र मर गया, तो इसमें क्या विशेषता है। जिसने जन्म लिया है, उसे तो मरना ही है, केवल तुम्हारे ही ऊपर यह संकट आया हो, सो भी बात नहीं है। तुम्हारे तो एक ही पुत्र मरा है, बहुतों के तो दस बीस पुत्र मर चुके हैं, मृत्यु तो जन्म के साथ ही उत्पन्न होती है, काल आने पर ह जाती है। अकेले तुम्हारे घर में ही मृत्यु हुई हो सो भी बा नहीं। घर-घर में मृत्यु है, जन-जन की मृत्यु है, स्त्री हो, पुरु हो, बालक हो, युवा हो, वृद्ध हो, मृत्यु किसी का शील संको नहीं करती। जितने हो गये हैं, जितने हैं और जितने आगे होंगे सभी को मृत्यु की दाढ़ों के नीचे पिसना पड़ेगा। जो मृत्यु अवश्य म्भावी है उसके लिये माँ ! तुम्हें दुःख शोक नहीं करना चाहिये तुम्हारे पति की मृत्यु हो गयी, तुम्हारे सास-ससुर मृत्यु के मु में चले गये। माता-पिता को भी उठा ले गयी, वही मृत्यु तुम्हा पुत्र को ले गयी और एक दिन तुम्हें भी उठा ले जायगी। ज

सब के साथ एक दिन यह बीतनी है, तो तुम फिर चिन्तित क्यों होती हो?"

महात्मा के इस उपदेश से उस विधवा का शोक मोह जाता रहा। उसने मृतक पुत्र के संस्कार किये। अपना सर्वस्व भिक्षुओं को दान करके वह स्वयं भी भिक्षुणी बन गयी।

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! मृत्यु का सामना तो सभी को करना है, इसी को और पुष्ट करते हुए भगवान् कह रहे हैं—तुम्हें जितने जो प्राणी दीख रहे हैं पहिले ये दिखायी नहीं देते थे, बीच में दीखने लगे, अंत में फिर दिखायी नहीं देंगे। जन्म से पहिले बच्चा नहीं था। जन्म होने पर दिखायी देने लगा। मरने पर फिर वह अव्यक्त में लीन हो गया। सभी वस्तुओं की यही दशा है। आम में मौर आने से पूर्व फल नहीं थे, फिर छोटी-छोटी अमिया दिखायी देने लगीं। देखते-देखते बड़ी हो गयीं। देखते-देखते पक गयीं। पककर टपक पड़ीं, अब आम के पेड़ में एक भी फल नहीं। समय आने पर फिर उसमें न जाने कहाँ से फल लग जायँगे, पक जायँगे फिर झड़ जायँगे। कुछ कच्चे ही झड़ जायँगे। सब वस्तुओं का पहिले अभाव, अादर्शन होता है, फिर उसका भाव या दर्शन होने लगता है, फिर लोप हो जाता है। ये समस्त प्राणी अव्यक्त से व्यक्त हो जाते हैं फिर अव्यक्त में ही विलीन हो जाते हैं जब यह नियम सार्वजनिक है, सब में एक ही समान लागू है, कुछ अकेले तुम्हारे ही ऊपर नहीं बीत रहा है सभी एक ही नियम में आबद्ध हैं और उस नियम में भी किसी को छूट नहीं, पक्षपात नहीं, तब फिर हे अर्जुन तुम व्यर्थ में शोक मोह क्यों करते हो? इस आत्मा का देखना दुर्लभ है, इस आत्मा का वर्णन करना और भी कठिन है, इस

आत्मा का श्रवण भी आश्चर्य प्रद है। इसकी अद्भुतता का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन को फिर उसी विषय को समझाते हैं।

छप्पय

जितने प्रानी जनम समयतें पहिले पहिलें।
रहें सबहिँ अव्यक्त प्रकट नहिँ ऐसो कहिलें॥
है जामें जब प्रकट व्यक्त सब तिनहिँ बतावें।
वे ही किरपा करें बीच में प्रकट लखावें॥
पृथक होहिँ जब देह तैं, मृत्यु जाहि सबही कहैं।
तबहू पुनि अव्यक्त सब, सोच योग पुनि नहिँ रहैं॥

महान् आश्चर्य

[१५]

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥*

(श्री भग० गी० २ अ० २९, ३० श्लो०)

छप्पय

आत्मा एक अचिन्त्य अपर अचरजवत देखत।
कोई बरनन करै आचरजवत ही बरनत॥
अचरजवत ही सुनैं अपर अधिकारी श्रोता।
अचरजवत व्याख्यान करै कोई बनि वक्ता॥
समरथ श्रोता सुनहिँ जो, समुझें अस अचरज करैं।
कोई-कोई सुनहिँ परि, जाने नहिँ ब्यरथहिँ लरैं॥

---

* कोई तो इस आत्मा को आश्चर्यवत देखता है। कोई दूसरा इसे आश्चर्यवत् कहता है, कोई आश्चर्यवत् सुनता है और कोई-कोई सुनकर भी इसे नहीं जानता॥२९॥

हे भारत! सबके देहों में यह जो देही आत्मा है, वह सदा ही अवध्य है। उसे कोई मार नहीं सकता। इसलिये तू सम्पूर्ण प्राणियों के लिये सोच मत कर। यह तेरे अनुरूप नहीं है॥३०॥

आत्मज्ञान गुड़का पूआ नहीं है, कि झट्ट से उठाया फट्ट से मुख में रखा और गप्प से खा गये। ये लोहे के चने हैं, छुरे की धारा पर चलने के समान हैं, ब्रह्मज्ञान कोई खिलवाड वाली वस्तु नहीं। क्योंकि संसार में इन्द्रियों से जानने योग्य विषय ही अगणित हैं। कितने पदार्थ हैं, उनका वर्गीकरण सांख्यवाले भले ही कर लें किन्तु सब की संख्या करना तो कठिन है। ये सब विषय इन्द्रियों के द्वारा जाने जाते हैं। आकाश में शब्द हो रहा है, इसे श्रवणेन्द्रिय के बिना आप जान ही नहीं सकते। पार्थिव पदार्थों में कैसी गन्ध है। इसका अनुभव घ्राणेन्द्रिय द्वारा ही हो सकता है। जलीय पदार्थों में कैसा रस है इसका ज्ञान रसनेन्द्रिय द्वारा ही होगा। तेजीय पदार्थों में कैसा रूप है इसका साक्षात्कार चक्षुइन्द्रिय से ही संभव है। वायु में कैसा स्पर्श है, इसे स्पर्शेन्द्रिय ही अनुभव करती है इन्द्रियाँ भी स्वयं तब तक अनुभव नहीं कर सकती जब तक उनके साथ मन न हो। आकाश भी है। उसमें शब्द भी हो रहा है और श्रवणेन्द्रिय भी वहाँ विद्यमान है। किन्तु मन कहीं अन्यत्र लगा हुआ है। मन के साथ श्रवणेन्द्रिय का सहयोग नहीं है। तो आप आकाश शब्द और श्रवणेन्द्रिय तीनों के विद्यमान होने पर भी शब्द नहीं सुन सकते हैं। इसी प्रकार विषय भी हो, तन्मात्रा भी हो, इन्द्रिय भी हो और मन भी हो, किन्तु आपकी बुद्धि विक्षिप्त है। उस पर किसी प्रकार का आवरण चढ़ा है तो भी आप यथार्थ बोध करने में समर्थ नहीं। कारण क्या है, यही कि यह एक की अपेक्षा दूसरे श्रेष्ठ हैं। विषय की अपेक्षा इन्द्रिय श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है। क्यों श्रेष्ठ हैं, इसलिये कि ये एक दूसरे के पूर्वज हैं। पृथिवी, अप्, तेज वायु और आकाश के

पूर्वज गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं, इन तन्मात्राओं के पूर्वज ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। उनके पूर्वज मन हैं मन की पूर्वजा बुद्धि है। तो हम जो भी ज्ञान प्राप्त करते हैं बुद्धि के द्वारा ही करते हैं, किन्तु बुद्धि तो आत्मा से बहुत ही पीछे की वस्तु है। उस बुद्धि के द्वारा आत्मज्ञान हो जाना कितने आश्चर्य की बात है। इसलिये भगवान् आत्मज्ञान में उपयोग होने वाली प्रत्येक-वस्तु के विषय में आश्चर्य शब्द का प्रयोग कर रहे हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने बारंबार अर्जुन को कहा—तू शोक मत कर, उठकर खड़ा होजा युद्ध कर। मोह को छोड़ दे। फिर भी जब अर्जुन का अज्ञान दूर नहीं हुआ, तो शंका होती है, या तो श्रोता अर्जुन ही ऐसा अनधिकारी है, कि भगवान् के बारबार समझाने पर भी वह शोक का परित्याग नहीं करता, उठकर खड़ा नहीं हो जाता। अथवा वक्ता श्री कृष्ण में ही इतनी योग्यता नहीं कि वे अपने शरणागत शिष्य के सब सन्देहों को दूर कर सकें क्योंकि बारबार समझाने पर भी श्रोता की समझ में जो बात न आवे वहाँ वक्ता की जड़ता समझनी चाहिये, अथवा वह विषय ही ऐसा गूढ़ है, कि श्रोता वक्ता दोनों ही उसके समझने समझाने में असमर्थ हैं। इस पर भगवान् कहते हैं श्रोता भी सच्चा जिज्ञासु है, वक्ता भी समर्थ है, परन्तु भैया, यह आत्म सम्बन्धी विषय ही ऐसा आश्चर्य मय है, कि इसमें जो न हो जाय वही आश्चर्यवत है। देखो, जैसे माता से उत्पन्न पुत्री माता की सब बातों को देखले यह आश्चर्य की बात है कि नहीं। इसी प्रकार कोई-कोई पुरुष इस आत्मा को आश्चर्य के समान देखता है। अरे यह कैसा आश्चर्य है। कोई आश्चर्य की भाँति नहीं, देखता यथार्थ में देख लेता है, उसे देख लेना भी महान् आश्चर्य की बात है। जो पुरुष देख लेता

है वह भी आश्चर्यमय पुरुष है, क्योंकि सर्वसाधारण पुरुष इस आत्मा को देख नहीं सकते।

इसी प्रकार कोई पुरुष आश्चर्यवत् आत्मा का वर्णन करता है। कोई पुरुष इसका वर्णन करता है, यह भी आश्चर्य की ही बात है तथा कोई-कोई आश्चर्यमय पुरुष इसका वर्णन करता है।

इसी भाँति कोई पुरुष आश्चर्य की भाँति इस आत्मा का श्रवण करता है। कोई श्रवण करता है यह भी आश्चर्य की बात है कोई अन्य आश्चर्य जैसा पुरुष इसका श्रवण करता है और श्रवण करके इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति मानता है, कोई-कोई श्रवण करके इसे जान लेता है, किन्तु कोई-कोई तो श्रवण करने पर भी इसे नहीं जानता।

कहने का अभिप्राय इतना है कि देखने में, कहने में, मानने में, सुनने में, जानने तथा न जानने में आश्चर्य ही आश्चर्य है।

सूतजी कह रहे हैं—"महाराज, आत्मा का जानना टेढ़ी खीर है। एक अंधा था, उसने कभी खीर नहीं खाई थी। कोई आदमी खीर की प्रशंसा कर रहा था। अंधे ने पूछा—खीर कैसी होती है? उस आदमी ने बताया—"स्वच्छ सफेद होती है।" अंधे ने फिर पूछा—सफेद कैसी?

उस आदमी ने बताया—"जैसे बगुला।"

अंधे ने पूछा—"बगुला कैसा होता है?"

तब उस आदमी ने अपना हाथ बगुले की चोंच के समान टेढ़ा करके बताया—बगुला ऐसा होता है।" अंधे ने उस आदमी के टेढ़े हाथ के ऊपर अपना हाथ फिराया और फिर बड़े आश्चर्य के साथ कहा—ओहो! यह बड़ी टेढ़ी खीर है।"

वास्तव में खीर टेढ़ी नहीं थी। बगुला टेढ़ा था। बगुला भी

नहीं बगुला की आकृति सदृश हाथ। किन्तु जिसका साक्षात्कार नहीं उसके लिये ऐसे ही आश्चर्यवत् अनुमान लगाया जा सकता है।

एक स्थान पर कुछ आदमी एकत्रित थे। उनमें कुछ तो चक्षु इन्द्रिय से हीन अंधे थे, कुछ गूंगे तथा बहरे थे। क्योंकि जो गूंगा होता है वह प्राय: बहरा भी होता है। किसी की घ्राणेन्द्रिय निरर्थक थी, कोई स्पर्शेन्द्रिय से रहित थे। किसी की सब इन्द्रियाँ ठीक थी। उस भीड़ में एक हाथी आ गया। किसी ने चिल्लाया हाथी है हाथी है। हाथी सौम्य था, भीड़ में आकर खड़ा हो गया। सभी को जिज्ञासा हुई हाथी कैसा है। एक अंधे ने उसके पैरों पर हाथ फेर कर कहा—मोटे खंभे के समान है, दूसरे ने उसके दांत पर हाथ फेरा। उसने कहा—सूखी लकड़ी के समान है। किसी ने उसकी सूंड पर हाथ फेरा उसने कहा—मोटे सर्प के समान है, जिसके आँखें तो थी किन्तु श्रवणेन्द्रिय और वाक्इन्द्रिय नहीं थीं। वह सामने छोटी पहाड़ी की ओर संकेत करके चलने का संकेत करते हुए जताने लगा कि चलती फिरती छोटी पहाड़ी के समान है। जिसकी स्पर्शेन्द्रिय काम नहीं करती थी, वह उसे गोबर के कंडों के बड़े बिठौरा के समान बताने लगा। जिसने पहिले कभी हाथी को देखा नहीं था न सुना था, वे उसे आश्चर्य के साथ देखने लगा। कोई कोई उसमें सर्वेन्द्रिय पूर्ण हाथी से पहिले ही परिचित था, वह सब की बातें सुनकर हँसने लगा। क्योंकि वह हाथी का साक्षात् कार कर चुका था। हाथी को सभी ने अपनी अपनी भिन्न-भिन्न रुचि से भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में देखा। कोई उसका पूरा वर्णन कर चुके, किसी ने अधूरा किया किसी ने नाम ठीक बताया किसी ने रूप ठीक बताया किसी ने वर्णन

ठीक किया। इसी प्रकार आत्मा को सभी देखने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु कोई विरले ही देख पाते है, बहुत से सुनते हैं बहुत मे सुनकर भी नहीं जानते। इसमें सर्वत्र आश्चर्य ही आश्चर्य है।

भगवान् कह रहे हैं—अर्जुन वास्तविक बात तो यह है कि देह में रहने वाला देही नित्य है, उसे कोई मारना चाहे भी तो नहीं मार सकता क्योंकि वह अवध्य है, एक ही शरीर में ऐसा हो सो बात नहीं जितने भी शरीर हैं उन लिंग देहोपाधिक जो आत्मा है उसे कोई त्रिकाल में भी मार नहीं सकता। स्थूल शरीर हो, सूक्ष्म शरीर हो अथवा कारण शरीर हो सब शरीरों में आत्मा तो एक ही है। स्थूल शरीर भले ही नष्ट हो जाय, आत्मा तो अविनाशी है। इसलिये तुम जो कह रहे हो, भीष्म को न मारूँगा, द्रोणाचार्य को न मारूँगा, कृपाचार्य को न मारूँगा अपने सगे सम्बन्धियों को न मारूँगा। यह तुम्हारा सोचना, चिंता करना मिथ्या है। शरीर तो नाशवान है ही एक दिन नष्ट होगा ही किन्तु इनमें स्थित आत्मा तो अविनाशी है, इसलिये तुम्हें युद्ध से पराङ्मुख नहीं होना चाहिये युद्ध करना चाहिये।

सूत जी कह रहे हैं—मुनियो! इस प्रकार भगवान् बार-बार आत्मा के नित्यत्व अविनाशीपने का वर्णन करके तथा शरीर को नाशवान् क्षणभंगुर बताकर अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त होने के लिये आग्रह कर रहे हैं। आत्मा और देह के सम्बन्ध में बताकर फिर वे धार्मिक दृष्टि से-वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अर्जुन को कर्तव्य पालन की स्वधर्म में स्थित रहकर क्षत्रिय के युद्ध रूपी कर्म की सार्थकता का भी उपदेश देते हैं। स्वधर्म में समारूढ़ रहना यह सब से बड़ा कर्तव्य पालन रूप कर्म है, स्वधर्म में

स्थित रहकर यदि मृत्यु भी हो जाय, तो श्रेयस्कर है स्वधर्म से च्युत होकर सौ वर्षों तक जीवित भी रहें तो अश्रेयस्कर है, निन्दनीय है। इसी पक्ष को सिद्ध करने को आगे वर्णाश्रम के कर्तव्य पालने पर बल देंगे।

छप्पय

जितने हैं सब देह छनिक अरु नाशवान् हैं।
देही सब में एक, नित्य सत ज्ञानवान हैं॥
वध ताको नहिँ होहिँ विज्ञ वधरहित बतावें।
पुनि-पुनि जनमें देह जगत में आवें जावें।
सब देहनिमें एक सो, आत्मा नित्य अवध्य अज।
फिरि स्वजननि को सोच का, मोह शोक कूँ तुरत तज॥

क्षत्रिय को धर्म युद्ध स्वर्ग का खुला द्वार है

[१६]

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥❀
(श्री भग० गी० २अ० ३१, ३२ श्लोक)

छप्पय

अपनो ही निज धरम देखि पुनि बात विचारो ।
आवे सज्जित शत्रु समर में सम्मुख मारो ॥
अस्त्र-शस्त्र कूँ देखि न क्षत्रिय कंपित होवे ।
हिय में उठे हिलोर शत्रु कूँ पुनि पुनि जोवे ॥
धरम युद्ध तें अधिक बड़, क्षत्रिय कूँ नहिँ बात है ।
क्षत्रिय रन कूँ देखि कें, मन में बहुत सिहात है ॥

❀ और फिर स्वधर्म को भी देखकर तुम्हें भय नहीं करना चाहिये, क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्म युद्ध से बढ़कर कोई भी कल्याण कारक कार्य नहीं है ॥३१॥

हे पार्थ ! अपने आप ही प्राप्त यह धर्म युद्ध स्वर्ग का खुला हुआ द्वार ही है। भाग्यशाली सुखी क्षत्रिय ही इस प्रकार के युद्ध को प्राप्त कर सकते हैं। सब को ऐसा धर्म युद्ध प्राप्त नहीं होता ॥३२॥

सनातन वैदिक वर्णाश्रम आर्य धर्म में मनुष्य जीवन का चर्मलक्ष्य मोक्ष बताया है। मोक्ष प्राप्त कर लेने के अनन्तर कुछ भी पाने के लिये अवशेष नहीं रहता। जब तक जीव को मोक्ष प्राप्त नहीं होता तब तक वह चौरासी के चक्कर में भटकता ही रहेगा। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। व्यक्तिगत रूप में तो कोई भी किसी प्रकार से मोक्ष प्राप्ति करने को समर्थ है, किन्तु सामाजिक रूप में वर्णाश्रम धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जो हमें शनैः शनैः कर्तव्य पालन करते हुए मोक्ष की ओर ले जा सकता है। मनुष्य का जन्म अनेक योनियों में भ्रमण करते-करते प्रारब्ध कर्मों के अनुसार होता है। जन्म जन्मान्तरों की वासनाएँ भी जीव के साथ जुटी रहती हैं एक वासना तो ये स्वभाविक होती है, कि मैं धनी बन जाऊं, दूसरी वासना यह रहती है कि मैं संसारी सुखों का सरलता से उपभोग करता हुआ पुत्र पौत्रवान् बनूं। ये दोनों वासनायें अन्याय से भी पूरी हो सकती हैं। धन भी अन्याय से उपार्जित किया जा सकता है और कामोपभोग भी अन्याय से हो सकता है, किन्तु अन्याय से अन्तःकरण संतुष्ट नहीं हो सकता। वर्णाश्रम वैदिक धर्म की मान्यता है, कि यह जो हमें दृश्यमान् लोक दीख रहा है यह ही सब कुछ नहीं है एक परलोक भी है। न्यायपूर्वक कार्य करने वालों को स्वर्ग में भी जाकर विषयों के दिव्य सुख प्राप्त होंगे और अन्याय करने वालों को परलोक में नरक की यातना भोगनी पड़ेगी। अतः काम और अर्थ का उपभोग इस ढंग से करना चाहिये कि हमें यहाँ भी सुख मिले और परलोक में नरक न जाकर स्वर्ग के सुख प्राप्त हों। काम और अर्थ के उचित न्याय्य उपभोग करने को ही धर्म कहते हैं। तुम्हें अर्थोपार्जन करना है तो धर्म पूर्वक करो,

तुम्हे कामोपभोग करना है तो धर्म पूर्वक करो। अर्थ और काम की वासना प्राणि मात्र में है, किन्तु उसे ठीक-ठीक नियमपूर्वक मर्यादापूर्वक न्यायपूर्वक काम में लाने का नाम ही धर्म है। जैसे मैथुन की इच्छा प्राणी मात्र में स्वाभाविक होती है। अन्य जीव तो जहाँ भी समानशील स्त्री लिंगधारी पाते हैं उससे करके अपनी वासना तृप्त करते हैं, किन्तु धर्मशील नियम के भीतर रहेगा, मर्यादापूर्वक वर्ताव करेगा। परस्त्री न हो, कन्या या विधवा न हो, धर्मपूर्वक जिसके साथ वैदिक विधि से न्याय पूर्वक विवाह हुआ हो। मातृकुल पितृकुल की कम से कम सात पीढी बचाकर विवाह हुआ हो, कन्या अपने गोत्र की न हो। इस प्रकार मर्यादापूर्वक कामोपभोग को धर्म कहा है। धर्मशास्त्रों में अर्थ और काम को त्याज्य नहीं बताया है, उनकी गणना पुरुषार्थ में की है, किन्तु वह पुरुषार्थ मर्यादित धर्मपूर्वक हो। अतः काम, अर्थ और धर्म इन तीन को पुरुषार्थ कहा है। ये तीनो स्वर्ग तक पहुँचा सकते हैं। किन्तु स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही जीव का लक्ष्य नही है। जीव का चर्मलक्ष्य तो मोक्ष है। अतः मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा गया है। सामाजिक रूप में मोक्ष या परम पुरुषार्थ कैसे प्राप्त कर सकें इसीलिये ऋषियों ने गुण कर्म स्वभावानुसार वर्णाश्रम धर्म की रचना की। आदि सत्युग में एक ही वर्ण था, एक ही वेद था। वर्ण का नाम हंस और वेद का नाम प्रणव या ओंकार। ज्यों-ज्यों प्रजा की वृद्धि हुई कार्य क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण और ऋक्, यजु, साम और अथर्व चार वेद हुए। चार वर्ण और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास ये चार आश्रम हुए। आदि में वे गुण, कर्म स्वभाव से बनाये गये थे, फिर उनका प्रचलन जन्म से हुआ। यह मान लिया गया, ब्राह्मण का लड़का

ब्राह्मण और क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय ही होगा यदि उसका रज वीर्य विशुद्ध रहा तो। अतः पीछे जन्म से ही वर्ण का निर्णय हुआ। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय ही नहीं था। ब्राह्मण के बालक का पांच वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार हो। उस अवस्था में आप गुण कर्म स्वभाव से निर्णय कर नहीं सकते। अतः सब वर्णों की आजीविका और धर्म पृथक्-पृथक् बाँट दिये। ब्राह्मण को शम, दम, तप, तितिक्षा आदि गुण वाला होना चाहिये वेद पढ़ना, पढ़ाना दान देना लेना, यज्ञ करना कराना ये ही उसके धर्म हैं। जिनमें वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना ये तो उसके परलोक सम्बन्धी धर्म हैं। पढ़ाना, दान लेना, और यज्ञ करना ये स्वधर्म पूर्वक आजीविका के साधन मात्र है। क्षत्रिय वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना इन धर्मों का पालन करें और प्रजा-पालन रूप धर्म से अपनी आजीविका चलावें। वह युद्ध से कभी पराङ्मुख न हो। युद्ध भी अधर्म का न हो धर्म-पूर्वक युद्ध उसका परम धर्म है। इसी प्रकार वैश्य वेदाध्ययन, दान और यज्ञ रूपी कर्मों को करता हुआ कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और व्याज इन चार कार्यों से अपनी धर्मपूर्वक आजीविका चलावे। शूद्र के लिये सेवा ही एक मात्र धर्म है और सेवा द्वारा ही तीनों वर्णों के द्वारा अपनी आजीविका चलाने का विधान शूद्र की सेवा से ही सद्गति है। विशुद्ध भाव से अपना धर्म समझकर तीनों वर्णों की सेवा करता रहे। तीनों वर्णों का भी धर्म है, कि अपने खाने के पहिले शूद्रों को खिलावे। खेती में अन्न पैदा हो, तो सबसे पहिले शूद्रों का भाग निकाल दे। शूद्रों के लिये कठोर नियमों का पालन नहीं। उनके लिये शौचाचार का भी कठोर नियम नहीं वे सेवा करते रहे तो मरकर स्वर्ग में सुख भोगेंगे। कुछ पुण्य शेष रह जाने पर अबके उनका जन्म

वैश्य कुल में होगा। शूद्र के लिये तो एक गृहस्थाश्रम का ही विधान था। उसे ब्रह्मचर्य धारण करके वेदाध्यन के लिये तपस्या नहीं करनी पडती थी। अब वैश्य को ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रमों का विधान है। वैश्य वानप्रस्थ नहीं हो सकता। वह कृषि गोरक्ष वाणिज्य के द्वारा धर्म पालन करते-करते मरेगा तो स्वर्ग में जायगा। स्वर्ग में जितने उसके पुण्य हैं उनका उपयोग कर कुछ पुण्य शेष रहने पर अब के वह क्षत्रिय वर्ण में जन्म लेगा। क्षत्रिय को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीन आश्रमों का अधिकार है। वहाँ प्रजा पालन रूपी धर्म करे। युद्ध का अवसर आने पर उसे हाथ से जाने न दे। क्योंकि जैसे यज्ञ करना ब्राह्मण का परम धर्म है वैसे ही धर्म युद्ध में वीरता के साथ लड़ता क्षत्रिय का मुख्य धर्म है। जब पुत्र योग्य हो जाय, तो प्रजा रक्षण का भार उसके सिर पर देकर वन में तपस्या करने चला जाय। क्षत्रिय को बीमारी से खाट पर मरने का विधान नहीं। या तो धर्म युद्ध में प्राण दे दे या वन में योग के द्वारा शरीर छोड़ दे। ऐसा क्षत्रिय स्वर्ग का सुख भोग कर पुण्य शेष रहने पर ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न होगा। ब्राह्मण को चारों आश्रम का अधिकार है। वह विरक्त त्याग वैराग्य सम्पन्न हो तो ब्रह्मचर्य से ही सन्यास में जा सकता है। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण कर सकता है। नहीं तो ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से सर्वस्व त्यागी विरागी सन्यासी हो सकता है। यदि शरीर त्याग के पूर्व ही उसने काम और क्रोध के वेग को सहन करने में वह समर्थ हो गया अर्थात् पूर्ण ज्ञानी हो गया तो वह जीवन रहते ही मुक्त हो जाता है, उसी को जीवन मुक्तावस्था कहते हैं। यदि सन्यासी घोर कठोर नियमों का पालन करते हुए भी उसे पूर्ण ज्ञान न हुआ, उसके

ज्ञान में कुछ त्रुटि रह गयी, तो उसे तपस्या और स्वधर्म पालन रूपी पुण्य के कारण ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी। वहाँ ब्रह्मा जी उसके अपूर्ण ज्ञान को पूर्ण करके कल्प के अंत में उसे मुक्त बना देंगे। अत्यत संक्षेप में यही वर्णाश्रम धर्म का रहस्य है।

आय सनातन वैदिक धर्म केवल वर्णाश्रम धर्म से ही मुक्ति मानता हो, ऐसा भी उसका आग्रह नहीं। उसका सिद्धान्त है, त्याग से, वैराग्य से, भगद्भक्ति से कैसे भी कोई भगवान् को पाना चाहे पा सकता है, किन्तु वर्णाश्रम धर्म समस्त समाज के लिये एक सर्वोपयोगी सीधा-राज पथ है, इसके द्वारा सभी बिना रोक टोक के क्रम-क्रम से उन्नति करते हुए उन्नति के शिखर तक पहुँच सकते हैं। वर्णाश्रम धर्म में एक बात पर बहुत अधिक बल दिया गया कि जो तुम्हारा कुलागत वंश परम्परा से आजीविका साधन है उसका कभी त्याग मत करना। कैसा भी कष्ट क्यों न पड़े ब्राह्मण के बालक को स्वधर्म नहीं छोड़ना चाहिये। इसी प्रकार क्षत्रिय वैश्य और शूद्र को। इसमें अपवाद भी है आपद् धर्म भी हैं जिनका विस्तार से वर्णन स्मृति ग्रंथों में है। यदि तुम परम्परागत अपने आजीविका के साधन का परित्याग करके दूसरे के कार्य को करने लगोगे तो समाज में विप्लव हो जायगा। अतः तीन कार्यों को छोड़कर कर कोई अपना कार्य बदल नहीं सकता था। एक तो चोर कर्म जिनके पूर्वज चोरी करते आ रहे हों और उनके वंश का कोई चोरी करना छोड़ दे तो उसे पाप नहीं लगेगा। दूसरा जीव हिंसा का कर्म। किसी के पूर्वज प्राणियों का वध करते रहे हों उनका वंशधर उस कर्म को छोड़ दे तो उसे भी पाप न लगेगा। तीसरे नाटकों में स्त्री बनकर जिसके पूर्वज आजीविका प्राप्त करते रहे हों और उसका वंशज उसे छोड़ दे तो, उसे भी पाप न लगेगा। शेष सभी को अपना

स्वधर्म छोड़कर परधर्म ग्रहण करने में वर्णाश्रम धर्म के अनुसार पाप का भागी होना पड़ेगा। बढ़ई के लड़के को बढ़ई गीरी ही करनी चाहिये। चर्मकार के पुत्र को चर्मकारी से ही आजीविका चलानी चाहिये यदि वह उसे छोड़ देता है तो पाप का भागी होता है आपत्ति काल को छोड़कर। इसीलिये महाभारत आदि में धर्मव्याध ऐसे ज्ञानियों ने—जिनके पास ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने बड़े-बड़े ऋषि मुनि ब्राह्मण आते थे उन्होंने मांस बेचना अपना स्वधर्म समझकर नहीं छोड़ा—ऐसा अनेक स्थानों में उल्लेख है। धर्मव्याध ने स्पष्ट कहा—मैं स्वयं तो जीवों की हिंसा करता नहीं। मै तो वधशाला से मांस लाकर बेचता हूँ, यह मेरा स्वधर्म है इसे मैं छोड़ नहीं सकता। अपना धर्म कैसा भी दोष युक्त हो और दूसरों का धर्म कैसा भी निर्दोष हो, आपत्ति काल को छोड़कर किसी भी दशा में अपने धर्म को नहीं छोडना चाहिये। यहाँ तक कि वेश्याओं को भी स्वधर्म पालन का विधान है।

पाटलिपुत्र (पटना) में एक बड़ी नामी वेश्या थी, एक बार गंगाजी में बड़ी भारी बाढ़ आयी। बाढ़ नगर को निरंतर डुबा रही थी। बड़े-बड़े ब्राह्मण एकत्रित हुए। एक ब्राह्मण ने कहा—कोई धर्मात्मा अपना धर्म दे तो उसके प्रभाव से बाढ़ रुक सकती है। किसी का साहस नहीं हुआ। किसी को अपने धर्म कर्म पर दृढ विश्वास ही नहीं था। उनमें से एक वेश्या ने कहा—"मै अपने धर्म के प्रभाव से बाढ़ को रोक सकती हूँ।"

सब लोग व्यंग से उसकी ओर देखने लगे। धन के लिये दूसरो को शरीर बेचने वाली यह वेश्या क्या बाढ़ को रोक सकेगी। "किन्तु एक ब्राह्मण ने उसकी बात पर विश्वास किया।

उसने कहा—देवि ! तुम अपने धर्म के प्रभाव से विनाशकारी बाढ़ को रोक दो।"

वेश्या ने हाथ में जल लेकर कहा—"यदि मैंने कभी अधर्म का आचरण न किया हो तो यह बाढ़ रुक जाय।" लोगों ने परम आश्चर्य के साथ देखा बाढ़ तुरन्त रुक गयी। गंगा जी उसी समय मर्यादा में आ गयी। राजा ने जब सुना तो वह तुरन्त वहाँ आया। उसने पूछा—"बाढ़ किसने रोक दी।"

हाथ जोड़कर वेश्या ने कहा—"अन्नदाता ! मैंने अपने धर्म के प्रभाव से बाढ़ को रोक दिया है।"

राजा ने कहा—"तुम ऐसे कौन से धर्म का आचरण करती हो, जिससे इतनी भारी बाढ़ तुरन्त रुक गयी।"

वेश्या ने कहा—स्वामिन् ! मैं कुल परम्परागत वेश्या हूँ। मैं अपने स्वधर्म का पालन करती हूँ, हमें लोग पण्य स्त्री कहते हैं। जिससे मैं जो वायदा करती हूँ, उसका प्राण पण से प्रेम-पूर्वक पालन करती हूँ। मैं अपनी ग्राहकों में ऊँच नीच, छोटे बड़े का भेद नहीं करती, जिससे जो वायदा कर लेती हूँ, उसी की हो जाती हूँ; फिर दूसरा कोई कितना भी अधिक द्रव्य दे उसकी ओर देखती भी नहीं। मैं अपनी ग्राहकों से कृतज्ञता और धर्म पूर्वक व्यवहार करती हूँ। दंभ, छल, कपट, अन्याय से दूर रहती हूँ, अपनी कुल, परम्परा, मर्यादा का कठोरता से पालन करती हूँ। तब राजा ने कहा—देवि ! तुम सत्य कहती हो, धर्म पालन में व्यवसाय बाधक नहीं होता।

इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म का आग्रह अपनी वंशपरम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने पर सदा से रहा है। बहुत से लोग मूर्खता से महाभारत युद्ध को राज्य के निमित्त हुआ बताते हैं, किन्तु वास्तव में यह युद्ध केवल धर्म के ही लिये हुआ।

धर्मराज का कहना था हमने अपनी प्रतिज्ञानुसार १२ वर्ष का वनवास एक वर्ष का अज्ञातवास पूरा कर लिया। अब हमें हमारा राज्य लौटा दो। दुर्योधन का कहना था– कि भूमि में सुई गाड़ देने पर जितना गढ्ढा हो जाता है मैं उतनी भी भूमि तुम्हें बिना युद्ध के न दूंगा। क्योंकि तुमने अज्ञातवास की अवधि पूरी नहीं की। "गणना में कुछ गडबडी थी मतभेद था। धर्मराज किसी भी प्रकार युद्ध करना नहीं चाहते थे, वे अपने हाथो अपने कुल का नाश किसी भी मूल्य पर करने को उद्यत न थे। वे यहाँ तक राजी हो गये कि हम ५ भाइयों को केवल ५ गाँव दे दो। हम दुर्योधन के अधीन होकर भी रहेंगे।" दुर्योधन इस पर भी राजी नहीं हुआ। तब धर्मराज ने श्रीकृष्ण को दूत बना कर भेजा कि महाराज जैसे भी बने तैसे आप युद्ध को रोक दो। संधि कर आओ। आप जो कर आवेंगे मुझे वही स्वीकार है।

आप कह सकते हैं—"कि धर्मराज ने ५ गांव ही क्यों माँगे। छोड़ देते ५ गांवों को भी जैसे पहिले १२ वर्ष भीख माँगकर रहे। वैसे ही वनों में रहकर भीख माँगकर निर्वाह कर लेते।" किन्तु पहिले की स्थिति में और अब में बहुत अंतर है। पहिले तो इन भाइयों का विवाह नहीं हुआ था। आपत्ति के मारे थे। आपत्ति काल में क्षत्रिय को ब्राह्मण वृत्ति से निर्वाह करने का विधान है। अब तो ये विवाहित थे, समर्थ थे। समर्थ विवाहित क्षत्रिय को भीख माँगकर निर्वाह करना अधर्म है पाप है उसे तो प्रजारक्षण रूप धर्म ही करना चाहिये। इसीलिये केवल धर्म की रक्षा के लिये क्षत्रिय धर्म का पालन करने के लिये वे पाँच गाँव माँगते थे। जब श्रीकृष्ण के बहुत समझाने पर भी दुर्योधन ५ गाँव क्या एक सूई के नोंक बराबर भूमि देने को तैयार न हुआ।

तब श्रीकृष्ण अपनी बूआ कुन्ती के पास गये और बोले—बूआ! अपने पुत्रों के लिये अब क्या कहती हो।"

उस समय १३ वर्ष से पुत्रों से विछुड़ी बूढ़ी विधवा दुःखिनी कुन्ती ने यह नहीं कहा—भैया, जाने दो धर्मराज से कहना भीख पर ही निर्वाह कर लो। क्यों कुल का विनाश करते हो। माँ युद्ध से डरीं नहीं। गर्ज करके उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा—केशव! अर्जुन से और युद्ध के लिये सदा कटिबद्ध हुए भीम से तुम मेरी ओर से कहना कि क्षत्राणी जिसके निमित्त पुत्रों को उत्पन्न कहती है वह काल अब उपस्थित हो गया है। अर्थात् युद्ध करके अपने भाग ले लो।" इससे यही सिद्ध हुआ कि धर्मराज ने राज्य के लोभ से नहीं धर्म पालन के लिये क्षत्रियधर्म की रक्षा के लिये युद्ध किया।

क्षत्रिय लोग युद्ध द्वेष से नहीं, किसी को मारने के लिये नहीं धर्म समझकर करते थे। धर्म युद्ध के कुछ नियम थे। दो पक्षों में जहाँ युद्ध की संभावना होती वहाँ दोनों पक्ष वाले शीघ्रता से राजाओं के पास जाते। जिसका निमंत्रण पहिले पहुँच जाता उसी की ओर बिना भेद भाव के वे लड़ने आ जाते। श्रीकृष्ण के पास अर्जुन और दुर्योधन साथ ही साथ युद्ध निमंत्रण देने पहुँचे। श्रीकृष्ण ने दोनो को ही सहायता देने का वचन दिया। एक ओर तो अपनी अपार चतुरंगिणी नारायणी सेना रखी और दूसरी ओर युद्ध से विरत अपने को रखा। दोनों से कहा-आप लोग इनमें से जिसे चाहें लेलें। अर्जुन दुर्योधन से छोटा है इसलिये इसे पहिले माँग ने का अधिकार है। अर्जुन ने निःशस्त्र श्रीकृष्ण को ही माँगा, तब दुर्योधन को श्रीकृष्ण की चतुरंगिनी सेना मिली और उसका सेनापति कृतवर्मा अंत तक पाडवों के विरुद्ध लड़ता रहा। मान लो अर्जुन ने सेना ही माँगी

होती तो क्या श्रीकृष्ण दुर्योधन की ओर से लड़ने न जाते। मान लो वे अस्त्र शस्त्र न भी उठाते तो दुर्योधन को पांडवों के मारने के सम्मतियाँ तो देते ही रहते। इस प्रकार युद्ध द्वेष से नहीं किया जाता था, क्षत्रिय धर्म समझ कर किया जाता था।

युद्ध के असंख्यों नियमों में से ये भी नियम थे कि युद्ध में सम्मुख अस्त्र शस्त्र लिये कोई भी लड़ने को आवे, उसे मार देने में कोई पाप नहीं। यही नहीं क्षत्रियों को उसे मार देने पर पुण्य की ही प्राप्ति होती है। परन्तु इतने लोगों को युद्ध में भी न मारे। लड़ते-लड़ते जिसका घोड़ा मर गया हो, पैदल हो उससे युद्ध करना बंद कर दे। जिसका सारथी मर गया हो, जिसके लड़ने के सब शस्त्र टूट गये हों, जिसने युद्ध बंद करके हाथ जोड़ लिये हों, जो दुःख के कारण अस्त व्यस्त हो गया हो, सिर के केश खुल गये हों, जो युद्ध में पीठ दिखाकर भाग खड़ा हुआ हो, जो युद्ध भूमि में युद्ध न करके बैठा हुआ हो, किसी ऊँचे स्थान पर या वृक्ष पर चढ़ा हुआ बैठा हो, उन लोगों को धर्म युद्ध करने वाला कभी न मारे दूत चाहे कैसी भी कड़ी बातें कह जाय, वह भी अवध्य माना गया है। गौ तथा ब्राह्मण ये भी सर्वथा सब समय अवध्य बताये हैं। यदि हाथ में अस्त्र शस्त्र धारण किये युद्ध की इच्छा से वेद पारंगत ब्राह्मण भी आ जाय तो उसे मारने में भी कोई पाप नहीं है।

इस प्रकार क्षत्रिय का सबसे बड़ा धर्म युद्ध ही है। युद्ध का नाम सुनते ही शूरवीर क्षत्रियों के हृदय में हिलोरें उठने लगती हैं। यदि युद्ध धर्म न होता तो दुर्योधन की ११ अक्षोहिणी सेना अन्त तक क्यों लड़ती रहती भीष्म जैसे विद्वान् लड़ाई क्यों करते। अतः धार्मिक पुरुषों को स्वधर्म का पालन अवश्य करना

चाहिये इस बात पर बल देते हुए भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी अर्जुन से कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—देखो, भैया अर्जुन! आत्मा तो मरती नहीं। देह क्षणभंगुर है विनाशशील ही है, इसका नाश अवश्य-भावी है, फिर तुम युद्ध करने से हिचकते क्यों हो? अच्छा यह तो मैंने तत्त्वज्ञान की दृष्टि से तुम्हें समझाया अब वर्णाश्रम धर्म की दृष्टि से समझ लो जो मोक्षमार्ग का सोपान है। तुम संयोग संस्कार तथा प्रारब्धवश क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न हुए हो। क्षत्रियों का परम धर्म है धर्मपूर्वक युद्ध करना। कोई अन्याय कर रहा हो। तो तेजस्वी क्षत्रिय को उसका पूरी शक्ति से विरोध करना चाहिये। यह दुर्योधन तुम्हें तुम्हारा पैतृक राज्य नहीं दे रहा है तुमको क्षत्रिय धर्म से गिरा रहा है और साथ ही सेना सजाकर अस्त्र शस्त्र लेकर तुमसे उलटे लड़ने को भी तैयार है। तो क्या ऐसी दशा में तुम्हें अधर्म का प्रतिरोध न करना चाहिये? अपने क्षत्रिय धर्म से च्युत हो जाना चाहिये। क्षत्रिय तो धर्म्य युद्ध के लिये सदा उत्सुक रहते हैं, युद्ध के अवसर को खोजते रहते हैं। बिना युद्ध के उनके हाथ खुजाते रहते हैं, एक तुम भी क्षत्रिय हो, शत्रु को सम्मुख देखकर काँप रहे हो। पसीना-पसीना हो रहे हो। तुम्हें ऐसे अवसर पर काँपना न चाहिये। अपने धर्म से विचलित न होना चाहिये। क्षत्रिय के सहज स्वभाव के अनुकूल ही है, युद्ध में प्रवृत्त होजाना। उसके लिये धर्म्य युद्ध से बढ़कर कोई कल्याण का अन्य साधन है ही नहीं।

अर्जुन ने कहा—महाराज, मैं युद्ध से डरता नहीं। युद्ध तो मुझे प्रिय है, किन्तु मैं गुरुजनों के वध से डरता हूँ।

भगवान् ने कहा—तुम्हें बार-बार तो समझा दिया। जो शत्रु भाव से शस्त्र लेकर युद्ध करने की प्रबल इच्छा से सम्मुख डटे हैं,

प्रहार करने ही वाले है, तो फिर वे गुरुजन कहाँ रहें। वेद पारंगत ब्राह्मण भी अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध में सम्मुख खड़ा हो, तो उसे मारने में भी कोई दोष नहीं। धर्मशास्त्र वाले तो युद्ध में सम्मुख जो भी आवे उसी से लड़ने की आज्ञा देते है।

क्षत्रिय तो प्रयत्न करके, उत्सुकता के साथ युद्धावसर खोजते रहते हैं, तुम्हें यह युद्ध का अवसर घर बैठे ही अकस्मात्-बिना प्रयत्न के यदृच्छया-प्राप्त हो गया है। यह स्वर्ग का खुला हुआ द्वार है। स्वर्ग के लिये किये जाने वाले यज्ञ यागों में तो कई प्रकार के व्यवधान है, अपवाद हैं, संदेह है, किन्तु क्षत्रिय के लिये युद्ध धर्म तो स्वर्ग का खुला हुआ द्वार है। बिना किसी रोक टोक के, बिना किसी विशेष प्रयत्न के तुम स्वर्ग के दरवाजे में प्रवेश कर जाओगे। यदि इस सुअवसर को भी तुम हाथ से खो दोगे तो महा आलसी कहलाओगे।'

एक आदमी आम खाने के लिये सदा समुत्सुक बना रहता था। एक बार वह अकस्मात् बिना प्रयत्न के आम के पेड़ के नीचे जाकर सो गया। वायु के झोंके से सुंदर पके पके सिंदूरिया रंग के अत्यंत मीठे आम उसकी छाती पर आकर गिर गये। इस सुवर्ण अवसर को भी पाकर जो आम को नहीं खाता उसे आलसी मूर्ख के अतिरिक्त क्या कहा जाय।

अरे, यह तो तुम्हारे लिये सुवर्ण-अवसर है ऐसे अवसर को भाग्यशाली सुखी क्षत्रिय ही प्राप्त कर सकते है। लोग तो युद्ध अवसर की प्रतीक्षा करते है यत्न करते हैं। तुम्हे बिना ही यत्न के युद्धावसर प्राप्त हो रहा है। सो भैया कायरता मत करो। भीष्म द्रोण तथा कर्ण जैसे सुप्रसिद्ध दिग्गज महारथियों के साथ युद्ध का अवसर मिल रहा है, इस युद्ध में तो तुम्हारे दोनों ही हाथों

में लड्डू है। जीत गये तो राज्य मिलेगा कीर्ति यश मिलेगा। संसार में सर्व श्रेष्ठ योद्धा के नाम से सदा के लिये तुम्हारी ख्याति बनी रहेगी, और हार गये, युद्ध में मर ही गये तो इससे भी बढ़िया वस्तु स्वर्ग की प्राप्ति होगी। ऐसे अवसर को व्यर्थ में क्यों खो रहे हो?"

अर्जुन ने कहा—"क्यों प्रभो! मुझे राज्य का और स्वर्ग का लोभ देकर गुरुजनों से युद्ध कराना चाहते हो? मैं तो इस पृथिवी मंडल के राज्य की तो बात ही क्या त्रैलोक्य का राज्य-इन्द्र पद-भी नहीं चाहता। जब मुझे कुछ इच्छा नहीं तब युद्ध न करने से मेरी हानि ही क्या हो जायगी?"

सूत जी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन की इसी शंका के निवारणार्थ भगवान् उसे आगे समझा रहे हैं—

छप्पय

का सोचत है तात अरे अरजुन अज्ञानी।
मैं मारूँ यह मरे नहीं सोचत है ज्ञानी॥
क्षत्रिय कूँ यदि धरमयुद्ध कबहूँ मिलि जावै।
तो अति होवै मगन अंग फूल्यो न समावै॥
स्वरग द्वार रूपी खुले, रन के सहज कपाट वर।
क्षत्रिय कूँ मिलि जाय यदि, भाग्यवान वह वीर नर॥
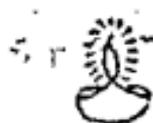
संभावित की अकीर्ति मरण से भी बुरी है

[१७]

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० ३३, ३४ श्लो०)

छप्पय

जो क्षत्रिय रन पाइ डरपि के ग्वातें भागे ।
क्षत्रिय धर्म विरुद्ध पाप ताकूँ अति लागे ॥
धरमयुद्ध नहिँ करै करै हठ अपनी भाई ।
तो होवे अपकीर्ति कीर्ति सबरी नसि जाई ।
सोइ कीर्ति यश सकल तू, जग निंदित बनि जाइगो ।
अरजुन भाग्यो छोड़ि रन, सब थल अपयश छाइगो ॥

---

* यदि तुम इस धर्मयुद्ध को नहीं करोगे, तो अपने धर्म की तथा अपनी कीर्ति को नष्ट करके केवल पाप ही पाप कमाओगे ॥३३॥

युद्ध न करने से तुम्हारी चिरकाल तक अपकीर्ति को लोग कहते रहेंगे । समावित पुरुष की अपकीर्ति तो मरने से भी अधिक बुरी बतायी गयी है ॥३४॥

इस संसार में सदा धर्म का आचरण करते हुए फूंक-फूंक कर पैर रखना चाहिये। क्योंकि संसारी लोग छिद्रान्वेषी होते हैं। साधारणतया लोग दूसरों की प्रशंसा की अपेक्षा निन्दा अधिक करते हैं। प्रशंसा तो जब हम अत्यंत विवश हो जाते हैं तब करते हैं। कोई अत्यन्त लोकप्रिय हो गया हो, बहुत से उसके समर्थ बलवान् प्रशंसक बन गये हों, अत्यन्त वैभवशाली हो गया हो, जिससे अपने स्वार्थ सधने की संभावना हो, जिसकी निन्दा करने पर घोर दण्ड मिलने का भय हो, ऐसे ही और भी अनेक कारण होने पर लोग किसी की विवश होकर प्रशंसा करते हैं, किन्तु फिर भी निन्दा का अवसर खोजते रहते हैं, कारण कि मानव स्वभाव छिद्रान्वेषी है सर्व साधारण की कोई निन्दा करता भी नहीं चोर-चोर तो भाई-भाई होते ही है, सर्व साधारण जैसे स्वयं हैं, वैसे ही उनके साथी भी हैं, सर्वसाधारण लोगों की निन्दा करो भी तो उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं, कोई लाभ नहीं। निन्दा तो संभावित पुरुष की ही अधिक दुखदायी होती है। जिसका जितना ही अधिक नाम होगा, जिसकी जितनी ही अधिक कीर्ति, प्रसिद्धि, प्रशंसा तथा ख्याति होगी उसकी उतनी ही अधिक निन्दा दुःखदायिनी होगी अतः संभावित पुरुषों को भरसक अपनी ओर से अकीर्तिकर कार्यों से सदासर्वदा बचे रहना चाहिये। उसे दृढ़ता से स्वधर्म का पालन करते रहना चाहिये। साधारण लोगों के जैसे अन्य सब कार्य साधारण होते हैं वैसे उनकी अकीर्ति भी साधारण होती है। उन्हें जानता ही कौन है। घर गाँव के कुछ लोग जानते हैं, उनसे कोई अकीर्तिकर कार्य बन भी जाता है, तो आपस के लोग कह देते हैं—"अरे, भाई, सभी से ऊँच-नीच काम हो ही जाता है, कौन दूध का धुला है। किन्तु जिन्होंने लोकोत्तर

कार्य किये है, जिनका यश जन साधारण में फैल गया है, उनके द्वारा कोई अकीर्तिकर कार्य हो जाय, तो वह उनके साथ सदा के लिये अपयश बंध जाता है। जैसे चन्द्रमा ने बड़े-बड़े पुण्य कार्य किये, उन्होंने किसी से न करने योग्य राजसूय यज्ञ किया। वे समस्त ओषधियों के तथा ब्राह्मणों के स्वामी बन गये। सुन्दर वे इतने अधिक थे, कि बड़े-बड़े ऋषि महर्षियों की पत्नियाँ स्वेच्छा से अपने-अपने पतियों का परित्याग करके चन्द्रमा के समीप चली आयी। इससे चन्द्रमा का अभिमान बढ़ गया। उन्होंने बल पूर्वक अपने गुरु बृहस्पति जी की पत्नी तारा का अपहरण किया। लोगों ने बहुत समझाया—यह कार्य आपके स्वरूपानुरूप नहीं है, किन्तु चन्द्रमा माने ही नहीं, इससे उनकी अपकीर्ति हुई। इनके श्वसुर ने ही इन्हें क्षयी होने का शाप दे दिया। चन्द्रमा में कलंक अभी तक चला आता है अब तक लोग भाद्रपद की चतुर्थी को जिस दिन चन्द्रमा को कलक लगा था, उसका मुख नहीं देखते। उसदिन भूल से भी चन्द्रमा दिखायी दे जायँ, तो देखने वाले को अब तक पापका भागी होना पड़ता है। अतः सुप्रसिद्ध ख्यातनामा पुरुष को पूरी शक्ति लगा कर अकीर्तिकर कार्यों से बचते रहना चाहिये। यों कोई झूठे ही लांछन लगा दे उससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। सत्य बात तो कभी न कभी प्रकट हो ही जाती है। झूठी बात से थोड़े दिन अपकीर्ति भले ही हो, पीछे जब लोगो को पता चलेगा, कि वे तो व्यर्थ में ही कलंकित किये गये। उनमे यह दोष था ही नहीं तब उनकी कीर्ति और भी बढ़ जायगी। जगज्जननी जानकी में वे दोष थे ही नहीं जो निंदकों ने व्यर्थ में उनमें लगाये थे। जब यह बात प्रकट हो गयी, वे गंगा जल से भी विशुद्ध पवित्र सिद्ध हो गयी। तो वे जगद्वन्द्या बन गयी। अतः स्वयं आदमियों को समझ बूझकर-

भ्रमवश-कोई ऐसा कार्य न करना चाहिये जो स्वधर्म के विरुद्ध, यश का नाश करने वाला अकीर्तिकर हो।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने 'अपि त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते' कहकर त्रैलोक्य के राज्य को भी ठुकरा देने की बात कही तब भगवान् ने कहा—तुम चाहते क्या हो ?

अर्जुन ने कहा—मैं युद्ध से भयभीत नहीं होता, केवल गुरुजनों के वध से डरता हूँ।

भगवान् ने कहा—"स्वधर्म च्युति से नहीं डरते ?"

अर्जुन ने कहा—एक ओर गुरुओं के वध का पाप हो और दूसरी ओर स्वधर्म परित्याग का पाप हो, तो मैं गुरुवध रूपी पाप ही न करना चाहूँगा।

भगवान् ने कहा—दोनों का बलाबल देख लो। मान लो तुम तो गुरुवध के पाप के भय से युद्ध से निवृत्त होओगे और कौरव यह समझें कि कर्ण के भय से यह युद्ध छोड़कर भग रहा है, तो वे तुम्हे भागते हुए को घेर लेंगे।

अर्जुन ने कहा—"घेर लें, मैं कोई कर्ण के भय से तो भग नहीं रहा हूँ, झूठा दोषारोपण लगा-कर वे मेरी निन्दा करें तो करने दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"वे घेर ही न लेंगे। मार भी डालेंगे।"

अर्जुन ने कहा—ये सब मिलकर भले ही मुझे मार डालें, परन्तु मैं अपने इन स्वजनों पर हाथ न उठाऊँगा।

भगवान् ने कहा—"मारने की संभावना है, संभव है तुम बचकर निकल भी सकते हो, फिर खाओगे क्या ?"

अर्जुन ने कहा—"भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करूँगा।"

भगवान् ने पूछा—समर्थ होने पर कोई आपत्तिकाल न रहने

पर क्षत्रिय को परधर्म अपनाना क्या अधर्म नहीं है। फिर जहाँ-जहाँ भी भिक्षा माँगने जाओगे वहीं लोग कहेंगे अजी, इन अर्जुन की तो हमने बड़ी ख्याति सुनी थी। हमने तो सुना था, कि जिन निवात कवचों को सब मिलकर देवता भी नहीं जीत सके थे, उनको इन अकेले अर्जुन ने ही जीत लिया था। हमने सुना था, किरात रूप शिव जी भी इनसे लड़ने आये थे तो इन्होंने अपनी युद्ध चातुरी से शिव जी को भी सन्तुष्ट किया था, आज ये युद्ध से पीठ दिखाकर अपने स्वधर्म को त्यागकर घर-घर भीख माँगते फिरते हैं। इस प्रकार युद्ध से पराङ्मुख होने पर तुम पर कई प्रकार के पाप लगेंगे।

अर्जुन ने पूछा—कौन से पाप लगेंगे ?

भगवान ने कहा—पहिला पाप तो यह लगेगा कि स्वतः प्राप्त युद्ध रूपी धर्मकार्य को तुम छोड़ रहे हो। दूसरा पाप यह लगेगा तुम्हारे भाई जो तुम्हारे ही बल भरोसे पर अपना राज्य प्राप्त करके क्षत्रिय धर्म का पालन करते, वे असहाय हो जायँगे, भाइयों के प्रति विश्वासघात का पाप। तीसरे मारे गये तो नरक में जाओगे, क्योंकि जो क्षत्रिय युद्ध छोड़कर भागता है, प्रजा का पालन नहीं करता, ब्राह्मणों की सेवा नहीं करता वह स्वधर्म से च्युत हो जाता है। तुम युद्ध से भागकर ये तीनों कार्य न कर सकोगे। यदि युद्ध छोड़कर जीवित भी रह गये, तो मृत्यु से भी बढ़कर वह जीना होगा। क्योंकि अब तक तो तुम्हारी संसार में कीर्ति व्याप्त थी, सब लोग तुम्हारे अमानुषीय कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे, अब उसी प्रकार समस्त प्राणी अनंतकाल तक तुम्हारी अपकीर्ति की चर्चा करते रहेंगे। मर कर नरक जाने की अपेक्षा भी संभावित पुरुष की अपकीर्ति अत्यन्त कष्टकर तथा दुखदायी है। युद्ध करने से कोई तुम्हें दोष

लगेगा नहीं क्योंकि शास्त्रकार कहते हैं—जो शस्त्र हाथ में लेकर अपने को मारने को आया हो वह आततायी है। ऐसा आततायी चाहे अपना गुरु ही क्यों न हो, चाहे बालक, वृद्ध, बहुश्रुत ब्राह्मण ही हो, उसे बिना विचारे मार देना चाहिये। यदि तुम इन्हें मार सके तब तो तुम्हें यश, कीर्ति के साथ भूमंडल का राज्य मिलेगा। लड़ते-लड़ते क्षत्रिय धर्म के अनुसार मर गये तब तो तुम्हारे लिये स्वर्ग का द्वार खुला ही है, दोनों बातों में से जो तुम्हें अच्छी लगे उसे करो। यदि अधर्म अपकीर्ति नरक से प्रेम हो, तब तो युद्ध छोड़कर भाग जाओ। यदि स्वधर्म, कीर्ति, यश तथा स्वर्ग से प्रेम हो तो युद्ध करो।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! भगवान् इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए वे और भी अर्जुन को समझाने लगे।

छप्पय

जहाँ-तहाँ सब लोग करें चरचा जाई की।
बहुत काल अपकीर्ति रहै तेरे भगिवे की॥
जैसे तेरे शुभ कामनि की करें बड़ाई।
अब-तजि भागे युद्ध होहि सरवत्र बुराई॥
माननीय नर के लिये, अपकीरति ई मरन है।
मरिबो हू जाते भलो, तू तो क्षत्रियवरन है॥

शत्रु तुम्हारी सामर्थ्य की निंदा करेंगे

[१८]

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥*

(श्रीभग० गी० २ अ० ३५, ३६ श्लोक)

छप्पय

तेरी कीरति तीन लोक में छाई अबई।
शूरवीर रनधीर सराहें तोकूँ सबई ॥
समुझि तोइ रन विरत सबनि मन लघुता आवै।
सम्मानित ह्वै प्रथम फेरि कायर कहलावै ॥
सब समुझें अरजुन डरयो, भागि गयो रन छोरिकें।
भीष्म द्रोन संग का लरै, बैठि गयो मुख मोरिकें ॥

---

* महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से भगा हुआ मानेंगे। पहिले तू जिनमे श्रेष्ठ माना जाता था, उन्हीं मे अब तू बहुत छोटा समझा जायगा ॥३५॥

जो तेरे शत्रु हैं, वे तेरे विषय मे न, कहने योग्य बातों को कहेंगे। तेरी सामर्थ्य की निंदा करेंगे। बताओ, तो सही इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या होगी ॥३६॥

संसार में हम बहुत से पापों से लोक निंदा के भय से ही बचे रहते हैं। जाति प्रथा में यही विशेषता थी, कि लोग जाति च्युति के भय से बहुत सी बुराइयों से दूर रहते थे। मनुष्य सामजिक प्राणी है, बिना समाज के उसका रहना कठिन हो जाता है। समाज में शत्रु और मित्र सभी प्रकार के लोग होते है। मित्र तो बहुत कम होते है, क्योंकि दूसरों की प्रशंसा मनुष्य चाहता नही। समाज में शत्रु ही अधिक होते हैं। एक वस्तु को हम भी चाहते हैं आप भी चाहते है बस, दोनों में शत्रुता हो गयी। संसार में धन कौन नहीं चाहता, यश-वैभव, स्त्री-पुत्र, भूमि-भवन वाहन तथा अन्य संसारी सुखों की वस्तुओं की इच्छा सभी को होती है। विषय भोग संसार में इतने सीमित है, कि सबको समान रूप से प्राप्त हो ही नही सकते। मान लो किसी प्रकार सबको बराबर-बराबर मिल ही जायँ, तो उनसे उनकी तृप्ति नहीं। जिनके पास अधिक विषय की सामग्री होगी, उनसे दूसरे कम सामग्री वाले स्वाभाविक जलेंगे ही। जलन ही शत्रुता का कारण है। जहाँ परस्पर में स्वार्थ में बाधा हुई वहाँ एक दूसरे को बुरा भला कहने लगते हैं। किसी के हाथ चलते हैं, किसी की जीभ चलती है। निंदक लोग यह नही विचार करते कि हम जिसकी निंदा कर रहे है, उसमें ये अवगुण इतनी मात्रा मे हैं भी कि नही। वे तो तिल का पहाड़ बनाकर बताते हैं। बिना ही आधार के झूठी निंदा करते है। इसीलिये मनस्वी लोग अपने आश्रितों को लोक निंदा का भय दिखाते रहते है— भैया, ऐसा काम कभी मत करो, जिससे चार लोग परस्पर में चबाव करें, निंदा करें। इसीलिये भगवान् शत्रुओं के द्वारा की जाने वाली निंदा का भय दिखाते हुए अर्जुन को धर्मयुद्ध में लगाने को प्रेरित करते है।

सूत जी कहते है—मुनियो! पहिले तो भगवान् ने युद्ध से विरत होने के पाप को बताया। अब निंदाकों द्वारा की जाने वाली निंदा का भय दिखाते हुए कहते है। देखो, जो लोग जिस विषय को जानते नहीं और उस विषय की आलोचना करें, तो मूर्खों पर तो चाहे उसका कुछ प्रभाव पड़ भी जाय, किन्तु बुद्धिमान लोग तो उसकी ऊट पटांग बातें सुनकर हँस ही देंगे. किन्तु जो जिस विषय के विशेषज्ञ हैं, वे यदि भूठी भी आलोचना कर दें, तो सभी लोग उसे सत्य मान लेते हैं। कह देते हैं—अजी, वे तो इस विषय में पारंगत हैं, वे असत्य थोड़े ही कहेंगे। तो सर्वसाधारण युद्ध से पराङ्मुख हो जाने पर तुम्हारी निंदा करें, तो उसकी कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि वे तो परिस्थिति से पूर्णरीत्या परिचित हो नही. किन्तु जो भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन तथा धृतराष्ट्र के अन्य सभी महारथी ताली पीट-पीटकर तुम्हें। चिढ़ाते हुए यही कहेंगे—"अर्जुन की वीरता देख ली। कर्ण को देखते ही उसके छक्के छूट गये। कर्ण तुम्हारा प्रतिस्पर्धी है ही। कर्ण को विश्वास है, कि युद्ध में मैं अर्जुन को परास्त कर दूंगा। उसके अस्त्र शस्त्र सीखने के समस्त प्रयत्न इसीलिये थे, कि तुमको युद्ध में परास्त कर सके। उसने भगवान् परशुराम से भूठ बोलकर—अपने को ब्राह्मण पुत्र बताकर—ब्रह्मास्त्र इसीलिये सीखा था कि वह तुम्हें मार दे। माता कुन्ती से भी उसने कहा था—मैं तुम्हारे अन्य पुत्रों को वश में आने पर भी नहीं मारूँगा। किन्तु अर्जुन को यदि मैं मार सका तो अवश्य मारूँगा।" दुर्योधन ने कर्ण के बल भरोसे ही युद्ध का निश्चय किया है। कर्ण ने तुम्हें ही अपना प्रतिस्पर्धी जोड़ीदार-चुना है। कौरव पक्ष के महारथियों को ही नहीं, तुम्हारे अग्रज धर्मराज

युधिष्ठिर को भी सबसे अधिक भय कर्ण का ही है। वे वन में बारह वर्षों तक कर्ण का ही निरन्तर स्मरण करते हुए आह भरते रहे थे। आज यदि तुम किसी भी अन्य कारण से युद्ध करना बंद कर दो, तो सब यही समझेंगे अर्जुन भय के कारण युद्ध से विरत हो गया। अब तक सब लोगों के हृदय में जो तुम्हारा महान् गौरव था, वह समाप्त हो जायगा। महाराज धृतराष्ट्र सबसे अधिक तुम्हीं से डरते हैं, जब विदुर जी ने कहा—अर्जुन की वीरता की आख्यायिकायें—उसके जीवन काल में ही दृष्टान्त का विषय बन गयी है। अर्थात् कथा कहने वाले व्याख्या करने वाले दृष्टान्त के रूप में अर्जुन के सशरीर स्वर्ग जाकर लौट आने की, किरात रूपी शिवजी से युद्ध करने की, निवातकवचादि असुरों को परास्त करने की, विराट् नगर में कौरवों को हराकर गोएँ छीन ले जाने आदि की वीरता पूर्ण घटनाओं का उल्लेख करने लगे हैं। साधारणतया सर्व साधारण पुरुषों में आख्यायिकायें मरणोत्तर प्रचलित होती हैं। कोई-कोई अत्यंत भाग्यशाली पुरुष होते है। कि उनके जीवन काल में ही लोग उनकी घटनाओं को उदाहरण के रूप में कहने लगते हैं। तुम उन्हीं भाग्यशालियों में हो। तुम संभावित बन चुके हो तुम्हारे धर्मात्मापने की—शूर वीरता की जब मन में स्थायी धाक बैठ चुकी है। सब लोगों को यह दृढ़ विश्वास हो गया, कि तुम कितने भी कष्ट क्यों न पड़े अपने स्वधर्म-क्षत्रिय धर्म रूपी युद्ध से पराङ्मुख नहीं हो सकते। यह जो कीर्ति में तुम्हें बहुमत प्राप्त हो गया है। युद्ध से विरत होते ही तम अल्पमत में आ जाओगे। तुम लाघवको-लघुताको-प्राप्त हो जाओगे। हम लोग जो तुम्हारे निकट सम्बन्धी है ऐसे कुछ लोग भले ही तुम्हारी निंदा न करें-किन्तु सर्वसाधारण में तुम्हारी लाघवता-

हलकापन फैल जायगा।

अर्जुन ने कहा—फैल जाने दीजिये। अब तक बहुमत में थे—अब अल्पमत में आजायँगे। इससे क्या होगा ?

भगवान् ने कहा—इससे मानसिक क्लेश बढ़ेगा। सुख दुख का कारण मन ही है। मन यदि सन्तुष्ट नहीं तो संसार के चाहें कितनी भी सुखोपभोग की सामग्रियाँ समुपस्थित हों, उनसे सुख नही मिल सकता। यद्यपि त्यागी विरागी पुरुष निन्दा स्तुति की कुछ परवाह नही करते, फिर भी निरन्तर निन्दा का उन पर भी प्रभाव होता ही है। जब परमज्ञानी जड़भरत जी महाराज को राजा रहूगण ने बहुत बुरा भला कहा, तो अन्त में उन्हें भी रोष तो आ ही गया। अपना परिचय देते हुए स्पष्ट कह दिया—"क्या तुम छोटे से राज्य सिन्धु सौवीर देश के क्षुद्र शासक हो, मैं पहिले समस्त भूमंडल का चक्रवर्ती राजा भरत था।" निन्दा तो उनको भी अप्रिय लगी। मेरी ही बात देख लो। मेरे ऊपर सत्राजित ने स्यमन्तकमणि की चोरी का झूठा लांछन लगाया था। और मेरे विपक्षियों ने उस बात को यहाँ तक बढ़ा-चढा कर फैला दिया कि यादवों की स्त्रियाँ अपने छोटे-छोटे बच्चों से कहने लगी थीं—"सुवर्ण के आभूषणों को पहिन कर मत जाओ, आज कल कृष्ण की नीयत खराब हो गयी है, कहीं तुम्हारे गहनों को न उतार लें। यह विपक्षियों द्वारा मेरे विरुद्ध प्रबल प्रचार का ही परिणाम था। तब मुझे झूठ होने पर भी इसका निराकरण करना पड़ा। द्वारका के बहुत से लोगों को साथ लेकर सत्राजित के भाई की मृत्यु का तथा स्यमन्तकमणि का पता लगाना पड़ा। ये अहित करने वाले विपक्षी शत्रु लोग सुई को फार बना देते हैं, तिल को पहाड़ कर देते हैं। उन्हें छोटा मोटा कोई छिद्र मिल भर जाय, उसके सहारे

वे ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ करके उसका प्रचार प्रसार करते हैं, कि करने वाले के कभी मन में भी वे बातें न आई होंगी। ये दुर्योधनादि तुम्हारे युद्ध से हटते ही न कहने योग्य ऐसी-ऐसी कलुषित: बातें तुम्हारे सम्बन्ध में कहेंगे, तुम्हारी सामर्थ्य की ऐसी निन्दा करेंगे, कि तुम्हें घोर कष्ट पहुँचेगा मानसिक व्यथा होगी।

अर्जुन ने कहा—"भगवान ! युद्ध करता हूँ, तो भीष्म, द्रोण आदि गुरुजन कहेंगे, देखो जिस बच्चे को हमने प्यार से गोद में खिलाया था अपने पुत्र के समान जिसका पालन पोषण किया था, वह कृतघ्नी हमसे आज लड़ने आ गया है, वे निन्दा भी करेंगे और कदाचित मैं उन्हें मार सका तो गुरु वध का घोर पाप मुझे लगेगा। यदि उन्होंने मुझे मार दिया तो मृत्यु दुःख सहना पड़ेगा। यदि मैं गुरु वध के पाप से युद्ध छोड़कर समरांगण से पृथक् होता हूँ, तो दुर्योधनादि शत्रु हमारी सामर्थ्य की निन्दा करेंगे मुझे बुरा भला कहेंगे। इसलिये युद्ध करने में भी पाप है और क्षत्रिय धर्मानुसार प्राप्त युद्ध को छोड़ दें तो भी पाप है। इनके द्वारा मारे जाने पर भी पाप, इन्हें मार दें तो भी पाप और समर छोड़कर भाग जायें तो भी पाप। हमें तो चारों ओर पाप पंक ही पाप पंक दिखायी दे रही है, इसका कोई निराकरण होना चाहिये।

इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन भ्रमवश तुम ऐसा अनुमान लगा रहे हो, मेरे मत में तो जय पराजय, मरने-मारने दोनों में ही तुम्हारा कल्याण है।

सूत जी कहते है—मुनियो ! इस विषय का जो विवेचन भगवान् ने किया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

इतनो ई तक गाहिँ तोइ सब गारी दिङ्गे।
जो नहिँ कहिबे जोग्य बात वे व्यरथ बकिङ्गे ॥
बैरी निंदा करें द्वेषवश दोष लगावैं।
भयो पार्थ भयभीत भीरु कहि तोइ चिढ़ावैं ॥
अपने ई निन्दा करें, जिन सँग भोग्यो बहुत सुख।
वे ई अपकीरति करें, कहो कौन जा सरिस दुख ॥

जय पराजय दोनों में ही लाभ

[१६]

हतो व प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥❀

(श्री भग० गी० २अ० ३७,३८ श्लो०)

छप्पय

लड़हू दोऊ हाथ हार होवे चाहें जय।
रन है क्षत्रिय धरम कहो जामें काको भय॥
लड़त-लड़त मरजाउ स्वरग में निश्चय जाओ।
है जावे यदि जीत राज पृथिवी को पाओ॥
कायरता अब मति करो, उठो युद्ध हित हरषि कें।
हों शत्रुनि तैं लड़ूँगौं, बोलो बानी गरजि कें॥

❀ मान लो, युद्ध में तुम मर ही गये, तो स्वर्ग को प्राप्त करोगे। यदि जीत गये, तो पृथिवी का राज्य भोगोगे। इसलिये हे कुन्तीनन्दन! तुम युद्ध का निश्चय करके उठकर खड़े हो जाओ॥३७॥

सुख और दुःख को, लाभ हानि तथा जय पराजय इन सब को समान समझ कर तदुपरान्त युद्ध करने को उद्यत हो जाओ फिर तुम्हे युद्ध में हिंसा जनित पाप नहीं लगेगा॥३८॥

मानव शरीर कर्म करने के लिये ही होता है। शरीर धारी कर्म तो सभी करते हैं, किन्तु जो कर्म परमार्थ को लक्ष्य करके किये जाते हैं, वे ही इष्ट सिद्धि में सहायक होते हैं। वैसे आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि कर्म पशु पक्षी आदि सभी योनि वाले जीव करते हैं, किन्तु ये कर्म भोग के निमित्त होते हैं। योग के निमित्त कर्म किये जायँ वास्तव में वे ही कर्म है। योग क्या? कर्मों के कुशलता पूर्वक करने का ही नाम योग है। भोजन तो भोगी भी करता है योगी तथा भक्त भी करता है, किन्तु भोगी स्वाद के लिये, शरीर को पुष्ट बनाने के लिये भोग करने में शरीर अधिकाधिक समर्थ हो इस उद्देश्य से करता है। योगी का मुख्य उद्देश्य यज्ञ है, क्योंकि यज्ञ के निमित्त किये हुए कर्मों को छोड़ कर सब कर्म बन्धन के कारण है। अतः यज्ञ करके उससे प्रसाद रूप में बचे हुए अन्न को जो खाता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है। योगी और भोगी भोजन तो दोनों ही करते है, किन्तु भोगी अकुशलता से केवल इह लोक को ही दृष्टि में रख कर करता है और भोगी कुशलता से परलोक को लक्ष्य करके करता है। केवल भावना का ही अन्तर है। भोजन करना रूप कर्म देखने में दोनों का समान ही है तनिक भी अन्तर नहीं, किन्तु भावना के अनुसार दोनों के फलों में बहुत अन्तर है। इसलिये कर्मों को सावधानी के साथ सोच समझकर लोक पर-लोक दोनों का ध्यान रखकर करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने युद्ध करने और युद्ध न करने में दोनों पाप तथा अपकीर्ति बतायी तब भगवान् ने हँसकर कहा—अरे, बूआ कुन्ती के लाड़िले लड़के! अरे मेरे फुफेरे भाई! मैं तो युद्ध करने में तुम्हें सब प्रकार से लाभान्वित ही मानता हूँ। मान लो तुम युद्ध में हार हो गये। बिना पीठ

दिखाये पूरी शक्ति से लड़ते ही रहे और इस पर भी तुम्हें भीष्म पितामह ने, द्रोणाचार्य ने अथवा महावीर कर्ण ने मार ही डाला तो तुम्हारे लिये क्षत्रिय धर्म के कारण स्वर्ग का मार्ग खुला ही हुआ है। स्वर्ग में जाकर दिव्य सुखों का उपभोग करो। और यदि भगवान् की कृपा से तुम जीत ही गये तो सम्पूर्ण वसुन्धरा का राज्य प्राप्त करोगे, विपुल धन ऐश्वर्य के अधिकारी बनोगे। उस धन से बड़े-बड़े यज्ञ यागादि दान धर्म करोगे, जिनका फल सुख ही है। अब तुम्हें बोलो, क्या आपत्ति है ?

सूत जी कहते हैं—"मुनियो, ! जब भगवान् ने यह पूछा तो अन्यमनस्क भाव से बैठे ही बैठे चिन्तामग्न अर्जुन बोला— "भगवन् ! अभी मैं कुछ निश्चय नहीं कर सका हूँ कि युद्ध करूँ या उससे विरत होकर चला जाऊँ।"

भगवान् ने कहा—'यही तो तुम्हारी जड़ता है। ऐसे अन्यमनस्क भाव से हाथ पर हाथ रखे अनिश्चित स्थिति में बैठे रहने से कैसे काम चलेगा ? क्या तुम्हें यह शोभा देता है। मैं तुमसे कह रहा हूँ, तुम एक निश्चय कर लो और वह निश्चय युद्ध ही करूँगा इस प्रकार शीघ्रता से शीघ्र ही करलो अब हाथ पर हाथ रखे बैठे रहने से काम न चलेगा, अब उठ कर खड़े हो जाओ। जो सोता रहता है, उसे तमोगुण घेर लेता है, जो उठ कर बैठ जाता है, उसका कल्याण समीप आ जाता है और जो उठ कर कमर कसकर-कटिबद्ध होकर खड़ा हो जाता है श्रेय उसके पैरों को चूमने लगता है, कल्याण उसका मित्र सखा बन जाता है, अतः तुम्हारा कल्याण युद्ध में ही है। बोलो, खड़े होते हो कि नहीं।"

अर्जुन ने कहा—खड़े होने को तो मैं अभी हो जाऊँ, किन्तु पहिले मुझे समझा तो दीजिये। मैं आपकी ही बात को बड़ी

करता हूँ। मरने पर स्वर्ग निश्चित है, जीतने पर राज्य का मिलना भी ध्रुव है। अच्छा, राज्य मिल गया, तो इस लोक के शारीरिक सुख ही तो मिल जायँगे। मरने पर स्वर्ग में दिव्य भोग मिल जायँगे। भोग चाहें इस लोक के हों या परलोक के दिव्य हों, दोनों पाप रूप ही हैं। आप कहते हैं—युद्ध न करोगे तो तुम्हें क्षत्रिय धर्मानुसार पाप लगेगा, तुम्हारी अपकीर्ति होगी, तो मैं कहता हूँ कि यही दोष तो युद्ध करने में भी है। जिनके बन्धु बान्धवों को हम रण में मारेंगे, वे निन्दा तो करेंगे ही, और विषयों का भोग रूप राज्य प्राप्त होगा वही एक प्रकार का पाप ही है, स्वर्गीय सुख भी मीठा पाप ही है। इस पाप से छुटकारा पाने का कोई उपाय बतावें।

भगवान् ने कहा—"देखो दुःख का कारण द्वन्द्व ही है। निर्द्वन्द्वता में दुःख नहीं होता। द्वन्द्व कहते हैं जोड़े को। पाप पुण्य, जीवन मरण, सुख दुःख, राग द्वेष, लाभ अलाभ जय पराजय, हानि लाभ, यश अपयश तथा संयोग वियोग ये ही द्वन्द्व कहलाते हैं। ये द्वन्द्व एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। धर्म अधर्म की पाप पुण्य की। हम सब अनुकूल परिस्थिति में प्रसन्न होते हैं, प्रतिकूल परिस्थिति में अप्रसन्न जैसे हम सदा जीवन चाहते हैं, सदा जीवन न मिलकर हमें मरण प्राप्त होता है, तो दुःख होता है। हम सदा लाभ चाहते हैं। लाभ न मिलकर हानि हुई तो दुःख होगा। इसी प्रकार जय चाहने पर पराजय होने से दुःख होगा। क्योंकि दोनों में विषमता है। विषमता कोई स्थूल वस्तु नहीं मन का भाव ही है। उस भाव को बदल दो। प्रत्येक स्थिति में समता रखो। समभाव को अपनाओ।"

अर्जुन ने कहा—"समभाव भगवन्! कैसे हो?"

भगवान् ने कहा—"समभाव होता है, कर्तव्य को प्रधानता

देने से। हम अपना कर्तव्य करते जायँ परिणाम जो भी कुछ हो। जो फल को हेतु बनाकर हमें इससे इसी वस्तु की प्राप्ति हो, ऐसा निश्चय करके काम करने को फल हेतुक कार्य कहते हैं।

शौनक जी ने पूछा—सूत जी समभाव का स्वरूप क्या है ?

सूत जी बोले—महाराज, समभाव का स्वरूप है, सभी परिस्थितियों में उन्ही एक सर्वान्तर्यामी प्रभु को देखना। वे जो कुछ कर रहें। उनमें विषम भावना लाना अपना कर्तव्य समझ कर शुभ कार्यों को करते रहना।

एक महात्मा भिक्षा माँगने जा रहे थे दो भाई परस्पर किसी स्वर्थवश लाठी लेकर लड़ रहे थे। उन महात्मा ने कर्तव्य समझकर उन दोनों को समझाया, लड़ो मत। लड़ने से कोई लाभ नहीं।

उनकी तो विषम दृष्टि थी। क्रोध में अंधे हो रहे थे। महात्मा को अपने कार्य में विघ्न डालते देखकर उन्हीं पर प्रहार कर दिया। प्रहार से वे अचेत होकर भूमि पर गिर गये। वे दोनों भाई भाग गये। उनके आश्रम वालों को पता चला तो वे उन्हें उठा ले गये। उपचार किया। गरम-गरम दूध मुख में डाला। दूध पीने से कुछ चेतना लौटी एक ने यह जानने को कि इन्हें अभी होश हुआ या नहीं पूछा—स्वामी जी ! जानते है आपको कौन दूध पिला रहें हैं ?

महात्मा ने कहा—"भैया ! जिसने लाठी मारी है, वही दूध पिला रहा है।"

सूत जी कहते हैं—महाराज इसी का नाम समभाव है। सुख हो, दुःख हो, लाभ हो हानि हो, जय हो पराजय हो। बिना इस पर ध्यान दिये कर्तव्य बुद्धि से करने योग्य कर्म को

जो करता है। वही समता रखने वाला पुरुष है। इसीलिये भगवान् अर्जुन को समझा रहे हैं—"अर्जुन ! तुम कर्तव्य समझ कर क्षत्रिय का युद्ध कर्तव्य है इसी भाव से युद्ध को तैयार हो जाओ। इससे सुख मिलेगा या दुःख, इससे हमारी हानि होगी या लाभ, इस युद्ध में हमारी जय होगी या पराजय, इन बातों की ओर ध्यान ही मत दो। विचार ही मत करो, हमें युद्ध करना ही है, इस इति कर्तव्य बुद्धि से यदि तुम युद्ध करोगे तो फिर पाप लगने का प्रश्न ही नहीं है।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! यहाँ तक सांख्य दृष्टि से भगवान् ने उपदेश दिया अब आगे कर्म योग दृष्टि से जैसे उपदेश देंगे उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

सुख दुख कूँ सम समुझि होहु निष्काम वीरवर।
युद्ध एक करतव्य समुझिकें ह्वै जा तत्पर॥
लाभ हानि तू जानि बराबर मति घबरावै।
होहि पराजय विजय सोच मनमें मत लावै॥
द्वन्दनि में सम बुद्धि करि, रनहित ह्वै जाओ खरे।
फेरि पाप व्यापे नहीं, हौं सारथि तेरो अरे॥

निष्कामकर्म योग-विवेचन

[२०]

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥*

(श्री भग० गी० २ अ० ३९, ४० श्लो०)

छप्पय

अब तक मैंने तोइ सांख्य की शिक्षा दीन्हीं।
जाने कीन्हीं शुद्ध बुद्धि ताई ने चीन्हीं॥
करम योग अब कहूँ बुद्धि कूँ शुद्ध बनाओ।
करिकें मन एकाग्र योग में ध्यान लगाओ॥
जा बुद्धितें युक्त है, बुद्धिमान बनि जाइगो।
सुख दुख में सम भाव करि, करम बंध नसि जाइगो॥

---

* यह मैंने तुझे सांख्य ज्ञान सम्मत सम्मति दी है। अब योग सम्मत कहता हूँ उसे सुनो। जिस बुद्धि से युक्त होकर हे पार्थ कर्म कृत बन्धनों को काट सकोगे॥३९॥

इस मार्ग में आरंभ किये का नाश नहीं होता। विपर्यय दोष—उलटा-भी नहीं होता। इस धर्म का यत्किंचित भी आचरण महान् भय से छुड़ा देता है॥४०॥

कर्म मात्र सदोष है, अतः बन्धन का कारण है। कर्म चाहें पुण्य प्रद हों या पाप प्रद, धर्मयुक्त हो या अधर्मयुक्त अच्छे हों या बुरे। सभी संसार देने वाले हैं। शुभ कर्मों का फल स्वर्गप्रद है, अशुभ कर्मों का फल नरकप्रद है। मिले जुलों का फल मर्त्य लोक में जन्म होना है। जैसे अग्नि धूम से आवृत रहती है ऐसे ही सभी कर्मारम्भ दोष युक्त हैं। कैसा भी कर्म करो उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। पानी से परवट की हुई, जुती हुई भूमि है, उसमें जानकर जो भी वस्तु बो दोगे वही फलवती हो जायगी। यदि अनजाने में भी प्रारब्धानुसार बीज पड़ गया—तो वह भी अंकुरित होकर फलवान् बन जायगा। इसी प्रकार कर्म कैसे भी करो उसका फल भोगना ही पड़ेगा। बीज उर्वराभूमि पर पड़ने से जमेगा ही, किन्तु यदि बीज को भून दो और फिर चाहें जैसी उर्वरा-भूमि में बो दो। उससे अंकुर पैदा न होगा। उस भूंजे हुए बीज से पेट तो भर जायगा, किन्तु भविष्य में बीज देने का कारण न होगा। बीज को भूनना-उसे बोने के अयोग्य बनाना—यही बुद्धि का कार्य है। इसीलिये इस योग को बुद्धियोग कहते हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने क्षत्रिय को युद्ध रूपी कर्म करना ही चाहिये। क्षत्रिय का धर्म ही है युद्ध करना, और युद्ध में शत्रु के सम्मुख लड़ते लड़ते मर जाना। उससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह बात कही तो अर्जुन ने इसका अनुमोदन किया। वह युद्ध से भयभीत थोड़े ही था। उसे तो अपने स्वजनों गुरुजनों के वध रूपी पाप से भय था। भगवान् एक ओर तो कर्म का उपदेश देते हैं। दूसरी ओर ज्ञानी को कर्म न करने को कहते हैं। विद्वान् के सभी प्रकार के कर्मों का निराकरण करते हैं। इसमें किस अवस्था में कर्म करना चाहिये और किस अवस्था

में कर्म न करना चाहिये। इसके सांख्य योग और बुद्धि योग दो-दो मार्ग बताये हैं। भगवान् उन्हीं के सम्बन्ध में आगे बतावेंगे।

श्री भगवान् अर्जुन से कहते हैं—हे पार्थ अब तक मैंने तुम्हें सांख्य योग का उपदेश किया। अब तुम कर्मयोग-शुद्धि बुद्धि द्वारा किये हुए कर्मयोग को श्रवण करो। जिस बुद्धि से युक्त होकर तुम कर्म बन्धनों से छूट जाओगे। वेद शास्त्रों में अनेक स्थानों में ब्रह्म को "औपनिषद् पुरुष" कहा गया है। उपनिषदों में उस परामत्म तत्व का ही बारंबार निरूपण किया गया है। वह ब्रह्म सर्वोपाधि शून्य है। इसलिये उपनिषद् समूह की ही संज्ञा "संख्या" दी है। उस संख्या के द्वारा जिसका निरूपण हो उसका नाम है "सांख्य" अर्थात् ज्ञान। ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य नहीं, कोई विधि विधान नहीं। निषेध नहीं, वह तो ज्ञान से ही तृप्त है। दूसरा कर्म मार्ग है, जैसे स्वर्ग की कामना से अश्वमेधयज्ञ रूपी कर्म करना चाहिये। पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ करना चाहिये। शास्त्र विहित कर्मों का सकाम भाव से शास्त्रीय नियमों द्वारा किये हुए कर्मों को कर्म मार्ग कहते हैं। जो लोग सकामी हैं उन्हें उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। ज्ञानी को कर्म न करके निरंतर आत्मचिन्तन में निमग्न रहना चाहिये। किन्तु ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग से एक विलक्षण विवेक बुद्धि द्वारा किया हुआ एक निष्काम कर्म योग मार्ग है, जिसे उपासना मार्ग कह लीजिये भक्ति मार्ग कह लीजिये, उसी का मैं तुम्हें उपदेश करूँगा। क्योंकि मैंने संक्षेप में ज्ञान मार्ग का भी उपदेश दे दिया। और वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म मार्ग को भी बता दिया। यह जो मैं निष्काम कर्म योग तुम से कहूँगा, यह बड़ा विलक्षण है। कर्म तो सब बन्धन के ही

कारण हैं। कर्म करोगे तो बन्धन में पड़ोगे, किन्तु मैं जिस कर्म योग का उपदेश दूंगा, उससे कर्म करते हुए भी तुम कर्मों के बन्धन से विमुक्त हो जाओगे।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! जब कर्म मात्र बन्धन के कारण हैं, तो कर्म करते हुए भी उनका बन्धन न लगे यह कैसे संभव हो सकता है। जल में घुसो और शरीर गीला न हो, आग में घुसो और शरीर जले नहीं। यह भी भला संभव है।"

इस पर सूत जी ने कहा—महाराज, संभव क्यों नहीं। एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहिन कर जल में घुस जाओ चाहे जितनी गहराई में चले जाओ शरीर भीगेगा नहीं अकरकरा तथा और भी कई प्रकार के लेप लगाकर बाजीगर आग में घुस जाते हैं उनका शरीर जलता नहीं। इसी प्रकार शुद्ध बुद्धि से युक्त होकर कर्मों का जो दोष सकामता है उसे निकाल कर कर्म करो कर्म का दोष नहीं लगेगा। कर्मों को कुशलता पूर्वक करना उसके बन्धन कारक दोष को हटाकर चातुरी से करना इसी में तो बुद्धिमानी है। इस विषय को एक दृष्टान्त द्वारा समझ लीजिये।

एक गाँव में एक वैद्य जी रहा करते थे, वह वैद्यक कर्म द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। गाँव में या आस-पास में कोई रोगी हो और विशेषकर किसी धनिक को रोग हो तो प्रसन्नता होती थी, क्योंकि उसकी चिकित्सा से उन्हें आर्थिक लाभ होता था। उनके घर के ही सम्मुख एक दूसरे विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। उन्हें यद्यपि आयुर्वेद का पूर्ण ज्ञान था, किन्तु वे आजिवा दूसरे साधनों से चलाते थे, आयुर्वेद को उन्होंने आजीविका का साधन नहीं बनाया था। वे सदा मिथ्या आहार विहार से बचे रहते, जितनी भूख होती उससे कम ही भोजन करते। अपनी प्रकृति के अनुरूप

ही वस्तुओं का सेवन करते, इससे वे कभी बीमार न पड़ते। वैद्य जी सोचते यह सदा स्वस्थ ही रहता है, कभी बीमार नहीं पड़ता। इससे मुझे कभी आय नहीं होती।

एक दिन रात्रि के समय वे विद्वान् ब्राह्मण दही की एक हँड़िया लाये। वैद्य जी को बड़ी प्रसन्नता हुई। वैद्यक शास्त्र का सिद्धान्त है "रात्रौ दध्ना न भुञ्जीतो" रात्रि में दही नहीं खाना चाहिये। "प्रतीत होता है यह ब्राह्मण इस बात से अपरीचित है आज यह परिवार सहित दही खायगा कल बीमार होगा; मेरी आमदनी हो जायगी।" यह सोचकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और कान लगाकर सुनता रहा। देखें यह अपने परिवार वालों से क्या बात कर रहा है।

उस ब्राह्मण ने अपनी पत्नी से कहा—देखो, आज मैं यह बहुत बढ़िया दही लाया हूँ, इसे रात्रि में खाना है, किन्तु बुद्धि युक्त होकर युक्ति के साथ खाना है।

स्त्री ने पूछा—"बुद्धि युक्त होकर युक्ति से कैसे खाया जाता है। इसकी मुझे युक्ति बताइये।"

ब्राह्मण ने कहा—"पहिले इसे रई से खूब मथलो, फिर इसमें घृत का घुंगार दे दो। तदनन्तर भुनी हींग, भुना जीरा, सौंठ सेंधा नमक डाल दो, राई और हींग जीरे का छोंक दे दो और थोड़ा पौदीना पीसकर मिला दो। तब परिवार के सब लोग खाना।"

यह सुनकर वैद्य निराश हुआ। उसने सोचा शास्त्र रात्रि में दही खाने का निषेध इसलिये करता है, कि दही वातल होता है, रात्रि में वात का प्रकोप होता है, दही हानि करता है, किन्तु इसने दही खाया तो सही किन्तु बुद्धि पूर्वक उसके समस्त दोषों का परिहार करके खाया। मथन से दही का दहीत्व नष्ट होकर

उत्क बन गया। राई, सोंठ, सेंधानमक, जीरा, हींग और पोदीना मिला देने से दही के जो वात जनित विकार थे वे भी नष्ट हो गये। अब दोष रहित दधि विकार न करके उपकार ही करेगा। इसी प्रकार सकाम कर्म सभी बन्धन के कारण हैं, किन्तु उनकी सकामता निकाल दी जाय, बिना फल की इच्छा कर्तव्य कर्म समझकर फलाशा के बिना किये हुए कर्म उसी प्रकार फिर उत्पन्न न होंगे जैसे उबाले हुए धान बोने से अथवा चावलों से भूसी दूर कर देने से उन्हें बो दिया जाय, तो वे फिर जमने वाले नहीं होते। इसलिये युक्ति पूर्वक निष्काम भाव से किये हुए कर्म को ही निष्काम कर्मयोग कहते हैं। इसी को लक्ष्य करके भगवान् ने कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—अर्जुन ! मैंने जो तुमको निष्काम कर्मयोग के सम्बन्ध में बताया इसमें आरम्भ का (बीज का) नाश नहीं होता, और स्वादिष्ट बन जाता है। जैसे जिस बीज को फिर से न जमाने की इच्छा हो, उसे एक बार उबाल ले फिर हींग जीरा घी डालकर छौंक दें। तो कितना स्वादिष्ट बन जायगा। अन्न को पेट भरने को ही पैदा किया जाता है। उस छौंके हुए अन्न के बीजों से पेट तो भर जायगा स्वाद भी आवेगा, किन्तु वह बोने पर फिर से बीज उत्पन्न करने में असमर्थ हो जायगा। इसी प्रकार निष्कामभाव से किया हुआ कर्म हमें प्रभु प्राप्ति रूप फल की प्राप्ति तो करा देगा, किन्तु संसार में पुनः पुनः जन्म लेना पुनः पुनः मरना। संसार को प्राप्त करा देना इसमें असमर्थ रहेगा। इसके करने से कोई उलटा-पुलटा भी नहीं होता। जैसे विश्वरूप को पिता त्वष्टा मुनि ने इन्द्र को मारने के संकल्प से यज्ञ किया था, किन्तु दैवयोग से एक स्वर विपर्यय हो गया। दीर्घ के स्थान में प्लुत स्वर हो गया। फल प्रतिकूल हो गया। इस निष्काम कर्म-

योग में यह भी बात नहीं। इस धर्म का स्वल्प आचरण संसार रूप महान् भय से मनुष्य की रक्षा करता है त्राण करता है। इस धर्म में कहीं पतन की आशंका नहीं। सीधा राजपथ है आँख मूँद कर चले जाओ।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब भगवान् सकाम कर्म करने वालों में जो दोष हैं उनको आगे बतावेंगे, उन्हें आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

करमयोग आरम्भ बीजको नाशन होवे।
प्रत्यवाय फलरूप दोष सबई इत खोवे॥
करमयोग अति सुगम करमफल कूँ नहिँ चाहै।
धरम काम कूँ सतत करै फलतैं बिलगावै॥
सुगम धरम कूँ नेंक हू, साधन जो साधक करै।
मृत्युरूप भयतैं छुटै, चौरासी चक्कर हटै॥

सकाम कर्मों में दोष

[२१]

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरतः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥*

(श्रीभग० गी० २ अ० ४१,४२ श्लो०)

छप्पय

होइ बुद्धि अति शुद्ध एक निश्चय करि लेवै ।
निश्चयधारी बुद्धि एक ही योगहिँ सेवै ॥
हैं जो अस्थिर बुद्धि विवेकहु जिनमें नाहीँ ।
ते थिर कैसे होहिँ कामना फँसे सदाहीँ ॥
हैं अनन्त शाखा बहुल, नर सकाम धी फल निरत ।
कैसे वह जग तैं छुटे, भ्रमत रहत फलभुक् सतत ॥

---

* हे कुरुनदन ! इस योग मे व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है । किन्तु जिसकी बुद्धि अस्थिर है, उनकी बुद्धियाँ बहुत भेदों वाली और अनन्त होती हैं ॥४१॥

हे पार्थ ! कागद के बने बनावटी पुष्प के समान इस प्रकार की वाणी को वेद के वाद विवाद मे ही निरत जो अविवेकी पुरुष कहते हैं, वे इसके अतिरिक्त कुछ नही हैं, ऐसा कहने वाले होते हैं ॥४२॥

वेद कर्म बहुल हैं। वेद की प्रायः समस्त ऋचाओं में कर्म की प्राधान्यता है। कौन सा यज्ञ कैसे करना चाहिये, कौन से कर्म का क्या फल है, कौन सी यज्ञ करने से कौन-कौन से भोग प्राप्त होते है, इन्हीं का विस्तार से वर्णन है। बीच-बीच में वेदों में कहीं-कहीं ज्ञान की भी महिमा है, जिस वेद में ऐसी ज्ञान की महिमा है उन्हें 'उपनिषद्' कहते है। सब वेदों को उपनिषदों की संख्यायें हैं जैसे ऋक्वेद की १० उपनिषदें हैं कृष्ण यजुर्वेद की ३२ उपनिषदें हैं सामवेद की १६ उपनिषदें हैं तथा अथर्ववेद की ३१ उपनिषदें हैं, और भी बहुत उपनिषदें है कुछ उपासना परक भी ऋचायें हैं। अधिकांश ऋचायें कर्मकाड की हैं, उनमें कर्म करते समय फल की प्रधानता रहती है। जैसे स्वर्ग की कामना से अश्वमेध यज्ञ को करना चाहिये। उन यज्ञयागों से कैसे-कैसे भोगों की प्राप्ति होती है, इसका भी वे वर्णन करते हैं। इससे कर्म को ही प्रधान मानने वाले भी मांसक लोगों का कथन है कि यज्ञ कर्म परक है। यज्ञ में कर्मों का ही विधान है। जब तक जीवित रहे वेद में बताये हुए कर्मों को ही करता रहे। शुभ कर्मों के करने से अक्षय सुखों की प्राप्ति होगी। अक्षय से उनका तात्पर्य कभी क्षय होने से नहीं है। वहाँ अक्षय का अभिप्राय चिरकाल तक स्वर्गीय सुख भोगने से है। वे यह मानते हैं कि जैसे कर्मों द्वारा उपार्जित भोग इस लोक में कभी न कभी क्षीण हो जाते हैं वैसे ही परलोक में पुण्य कर्मों से प्राप्त स्वर्गादि लोक भी क्षय हो जाते हैं। स्वर्ग में पान करने को अमृत मिलता है, उर्वशी आदि अप्सराओं के संग में विहार करने का अवसर मिलता है पारिजात के दिव्य पुष्पों को सूँघने को सुगन्धि मिलती है। देवताओं का आधिपत्य भी मिल जाता है, वहाँ के दिव्य उपवनों में क्रीड़ा करने का अवसर मिलता है यही सर्वश्रेष्ठ सुख है, इसी के लिये प्रयत्न करना

चाहिये। इस पर शंका करते हैं कैसा भी दिव्य सुख है, किन्तु वह है तो क्षयिष्णु कभी न कभी तो स्वर्ग से च्युत होना पड़ेगा। इस पर वे कहते हैं, यदि स्वर्ग में पुण्यक्षय होने पर पतन भी हो तो उत्तम कुल में यहीं पृथ्वी पर ही तो जन्म होगा, यहाँ हम पुनः वेद की विधि के अनुसार पुण्यकर्म करके स्वर्ग को प्राप्त कर लेंगे। कर्मों के द्वारा इसलोक में उत्तम भोगों को भोगेंगे परलोक में दिव्य भोगों का आनन्द लेंगे। यही सर्वोत्तम सुख है इसी का नाम मोक्ष है। यही परमानन्द है। ये जो ज्ञान की ऋचायें हैं ये तो स्तुति मात्र हैं, अतिशयोक्तियाँ है, इनका तात्पर्य स्तुति में है। कर्मकांड वाले इस लोक के उत्तम भोगों की और परलोक के दिव्य सुखों को ही सब कुछ मानते हैं। कर्मों का अनुष्ठान वे इन्हीं सुखों की प्राप्ति के निमिन्ति करते हैं। भगवान् कर्म करने को तो कहते हैं किन्तु इन सुखों की प्राप्ति के निमित्ति सकाम भाव से किये जाने वाले कर्मों की निन्दा करते हैं। वे बिना फल की इच्छा किये हुए निष्काम कर्म योग की प्रशंसा और सकाम कर्मों की निन्दा करते हुए अर्जुन से कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"देखो; भैया, कर्म तो एक ही भाँति किये जाते हैं, कर्मों में तो कोई अन्तर है नहीं। दो आदमी पानी में डूब रहे हैं। एक को एक आदमी इस भावना से पकडने जा रहा है, कि इसे बचालूँ दूसरा इस भावना से तैर कर जा रहा है कि इसे डुबा दूँ। दोनों ने दोनों को पकड़ा। डुबाने वाला डुबाना चाहता था, किन्तु थाह आ जाने से वह बच गया। बचाने की भावना से जो गया था, उसने उसे पकड़ तो लिये, किन्तु भँवर में पड़ गया इससे वह उसके हाथ से छूट गया वह गया। यद्यपि दोनों का कर्म तैरकर जाना पकड़ना एकसा ही था। जो डुबाना चाहता था, वह डुबा न सका, जो बचाना चाहता था वह बचा न सका। किन्तु

दोनों के फल में बहुत अन्तर हो गया। यद्यपि बचाने की भावना से जाने वाला अपने प्रयास में सफल न हुआ उसे बचा न सका, किन्तु उसे बचाने के प्रयत्न के कारण पुण्य हुआ। दूसरा खोटी बुद्धि से बुरी भावना से गया था। यद्यपि उसके कारण उस व्यक्ति के प्राण बच गये किन्तु उसे पाप ही लगा क्योंकि उसके भाव दूषित थे। इसी प्रकार सकामी निष्कामी कर्म तो एक से ही करते हैं, किन्तु दोनों के फल में अन्तर हो जाता है। हे कुरुनन्दन। तुम्हारे पूर्वज कुरु ने भी कर्म किया था, किन्तु उन्होंने सकाम कर्म का अनुष्ठान किया था। बुद्धि दो प्रकार की होती हैं, एक व्यवसायात्मिका दूसरी अव्यवसायात्मिका। जिस बुद्धि का निश्चय एक ही हो, अटल हो, ध्रुव हो कभी डिगने वाला न हो। इस मोक्ष मार्ग में उसी एक तत्व को निश्चय करने वाली बुद्धि को व्यवसायात्मिका कहते हैं 'निष्काम भाव से भगवत् प्रीत्यर्थ कर्म करना।' यही एक इसका दृढ़ निश्चय होता है, किन्तु जो कर्म फल की इच्छा [illegible] की बुद्धियाँ एक नहीं होतीं [illegible] वाली अनेकों शाखाओं वाली [illegible] निश्चय है, कि मैं एकमात्र श्री हरि की आराधना से ही इस असार संसार को बात की बात में पार कर जाऊँगा। वे लोग ही व्यवसायात्मिका बुद्धिवाले निष्काम कर्म योगी कहाते हैं क्योंकि उनकी बुद्धि बहुत से फलों की कामना न रहने के कारण अबाधित हैं और ये फलाकांक्षी होने से नाना कामनाओं से बाधित होने वाली हैं। एक तो किसी कामना विशेष से कर्म किया जाय दूसरा केवल प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म किया जाय, तो इन दोनों के फलों में बहुत भेद हो जाता है।

भगवान् ने अर्जुन से कहा—हे पार्थ! एक अर्थवाद होता है। जैसे 'मधरामृत' अमृत उसे कहते हैं, जिससे आदमी कभी मरे नहीं। किन्तु मधरामृत का पान करने वाले गृहस्थी मरते देखे गये.

हैं। इसलिये अधर के लिये अमृत कहना अर्थवाद है। प्रशंसापरक है। इसी प्रकार कर्मासक्त अज्ञानी लोगों को वैदिक कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिये वैदिक कर्मकांड की प्रशंसा की गयी है। जैसे पलास-टेसू का पेड़ है, वह खूब फूला हुआ है। उसमें नीचे से ऊपर तक लाल-लाल फूल खिले हुए हैं। उसकी प्रशंसा में भाँति-भाँति की उक्तियाँ दी गयी हैं, विविध-भाँति की सूक्तियाँ पढ़ी गयी हैं, किन्तु उसके फूलों को सूँघो तो वे निर्गन्ध हैं, देखने में भले से लगने वाले पुष्प गन्धहीन हैं। इसी प्रकार कर्मकांडी लोग कहते हैं। वेदों का अभिप्राय कर्मकाड में ही है, ज्ञान कांड कोई वस्तु ही नहीं। वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मकाण्ड ही है। स्वर्गीय सुखों के अतिरिक्त मोक्ष आदि कोई नहीं है, जो कुछ है स्वर्गीय सुख ही है ऐसा मानने वाले वे दुराही सकाम कर्मों की ही प्रशंसा करते रहते हैं। उनका मत इतना ही है, कि इस लोक में वेद विधि से नित्य नैमित्तिक यज्ञ, अग्निहोत्र, दार्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, सोमयज्ञ पशु यज्ञ आदि कर्मों को करते रहना चाहिये इनके फल स्वरूप अक्षय स्वर्गीय सुखों का उपभोग करना चाहिये। ऐसा कहने वाले लोग कामात्मा हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् ने ऐसे कामात्मा विषय सुख लोलुप लोगों की बड़ी भर्त्सना की है। इस विषय को मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

जन सकाम ऐश्वर्य भोगहित करम करावें।
वेदवाद आसक्त जाहि सर्वस्व बतावें॥
टेसू को ज्यों फूल दिखाऊ गंध न तामें।
बानी ऐसी कहें, स्वरग ही सार जतामें॥
ते अविवेकी हठ करें, चढ़न स्वरग सीढ़ी चहत।
करि सकाम करमनि चढ़ें, कछु दिन रहि पुनि-पुनि गिरत॥

भोगैश्वर्य प्रसक्त पुरुषों की बुद्धि विशुद्ध नहीं होती

[२२]

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधियते ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० ४३, ४४ श्लो०)

छप्पय

कामात्मा जो पुरुष मोक्ष कबहूँ नहिँ पावें।
स्वरग-स्वरग ही स्वरग-स्वरग की रटन लगावें॥
करमनि में आसक्त रहे नित बुद्धी तिनकी।
नाना क्रिया कलाप कुशल है मति अति जिनकी॥
भोग और ऐश्वर्य हित, अंट संट सब कुछ कहें।
सुनें न काऊ की कबहूँ, करमकाण्ड लिपटे रहें॥

गुण प्रवाह का ही नाम संसार है। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं, तीनों ही जीव को तीनों लोकों में घुमाते रहते

* जो सकामी होते हैं, वे स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ मानते हैं, और जो यज्ञादि क्रिया विशेष हैं, जो कि भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति कराने

हैं। पृथिवी, स्वरग और नरक इन्हीं तीनों में प्राणी घूमता रहता है। सत्त्व की प्रधानता से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती, तमोगुण की प्रधानता से नरक आदि अन्धतम लोकों की प्राप्ति होती है और रजोगुण की प्रधानता से पृथिवी पर जन्म होता है। अतल, वितल, सुतलादि जो सात नीचे के लोक हैं वे भू-विवर कहलाते हैं। स्वर्ग भी तीन प्रकार के होते हैं। एक भौम स्वर्ग, दूसरा भूविवर स्वर्ग तीसरा दिवि स्वर्ग। भौम स्वर्ग तो भूमि में ही ऐसे लोक हैं जिनमें स्वर्ग के समान सुख होते हैं जैसे प्लक्षद्वीप, शाल्मलिद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप शाकद्वीप, और पुष्करद्वीप ये सब के सब भौम स्वर्ग हैं। एक जम्बूद्वीप ही कर्ममय द्वीप है। जम्बूद्वीप में भी नौ वर्ष हैं इन नौ वर्षों में भी केवल भारतवर्ष ही कर्म भूमि है; शेष आठ वर्ष दिव्य स्वर्ग से लौटे हुए पुण्यात्माओं के पुण्य भोगने भू स्वर्ग माने गये हैं। इसी प्रकार पृथिवी के नीचे जो भू विवर स्वर्ग है, उनमें भी स्वर्ग से अधिक सुखोपभोग हैं। दिवि स्वर्ग जो भूमि से ऊँचा है उसमें तो देवता ही रहते हैं। जिन लोगों का चित्त भोग और ऐश्वर्य में ही आसक्त रहता है, वह इन्हीं तीनों लोकों में आते जाते हैं। जो पापात्मा होते हैं, वे नरकों में दुःख भोगते हैं, कुछ पाप शेष रहने पर फिर भूमि पर जन्मते हैं, फिर नरकों में जाते हैं। जो पुण्य आत्मा हैं, वे पुण्य के प्रभावसे स्वर्गादि सुखों का उपभोग करके कुछ पुण्य शेष होने पर पृथिवी पर जन्म लेते हैं, भूमि

वाली हैं, उनके प्रति प्रशंसायुक्त वाणी कहते हैं ॥४३॥

उन वचनों से जिनका चित्त अपहृत हो गया है, ऐसे भोग और ऐश्वर्य में ही आसक्ति रखने वाले पुरुषों की स्व-स्वरूप में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती ॥४४॥

के सुखों को भोगते हैं, फिर पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं। इस प्रकार ये कर्म जन्म कर्म और फलों के देने वाले कहे गये हैं। जिनका चित्त इन्हीं भोग और ऐश्वर्य में फँसा है वे इन्हीं को सर्वस्व समझते हैं। वे कहते है इन सुखों के अतिरिक्त मोक्षादि कुछ नही है, किन्तु जो मोक्षार्थी हैं, वे इन भोग और ऐश्वर्यों को क्षणभंगुर मानकर उनकी निंदा करते हैं। भोग उनको कहते हैं, जिनका आस्वादन इन्द्रियों के द्वारा किया जाय। जैसे खाने पीने, सूँघने, सुनने, देखने, तथा स्पर्शादि की सामग्री। ऐश्वर्य उसे कहते हैं, जिससे स्वामित्व, ठाठ बाठ प्रभाव प्रदर्शित हो, जैसे छत्र, चमर, आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र और भी महल भूमि ऐश्वर्य प्रदर्शित करने की सामग्री। ससारी लोगों का चित्त प्रायः दोनों ही वस्तुओं में फँसा हुआ होता है। खूब ठाठ बाठ से रहें तथा इन्द्रियों को सुख देने वाली सामग्रियों की बहुलता हो। मोक्षार्थी इन सब को विषवत देखता है। उनकी निंदा करता है। भगवत् गीता का प्रतिपाद्य विषय भगवत् प्राप्ति या मोक्ष है, इसलिये उसमें इन भोगेश्वर्य प्रसक्त पुरुषों को बहुत खरी-खोटी बातें सुनाई गई हैं।

भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! जो कामात्मा पुरुष हैं, वे स्वर्ग को ही सब कुछ मानते हैं, अर्थात् उनके समस्त वैदिक विधान स्वर्ग प्राप्ति के ही निमित्त हुआ करते है। हमें पहिनने को अम्लान दिव्य-दिव्य मालायें प्राप्त हों, लगाने को सुन्दर सुगन्धित दिव्य चन्दन मिले, क्रीड़ा करने को अत्यन्त सुन्दरी अप्सराओं का समूह मिले, पहिनने को दिव्य वस्त्राभूषण मिले। चढ़ने को समस्त स्वर्गीय सामग्री से सम्पन्न विमान मिले इस प्रकार के भोगों की इच्छा करते है। साथ ही वे ऐश्वर्यशाली भी बनना चाहते है, हमें देवताओं का आधिपत्य प्राप्त हो, रत्नजटित

सिंहासन हो, छत्र चँवर हों, दास दासियों का समूह हाथ जोड़े खड़ा हो। इनके समस्त कार्य इन्हीं की प्राप्ति के निमित्त होते हैं इन्हें पाने के लिये वे वेद की विधियों का पालन करते हैं। जैसे श्रुति है "ऐश्वर्य की प्राप्ति की कामना वाले पुरुष को वायु के उद्देश्य से श्वेत पशु की बलि देनी चाहिये।" इन वेद वाद वाक्यों को ही वे परम सत्य समझते हैं। उनके लिये सब वेद वाक्य काम परक है। हम सोमपान करते हैं, चातुर्मास्य यज्ञ करने वालों को अक्षय पुण्य होता है, किन्तु यहाँ अक्षय शब्द केवल प्रशंसा-वाचक है। प्रशंसावाचक न होता, तो फिर पुण्य क्षीण होने पर उन्हें मर्त्यलोक में क्यों आना पड़ता? वास्तव में ये सब कर्म जन्म, कर्म और फलों को देने वाले हैं। जिस कामना से सविधि वैदिक यज्ञयागादि कार्य करते हैं उनका फल तो उन्हें अवश्य ही मिलता है, किन्तु वह फल वास्तविक अक्षय सुख को देने वाला नहीं होता। फल की ही कामना से कर्म करने के कारण उनका चित्त आवरणयुक्त हो जाता है। उनकी बुद्धि विषयों की आशा से भ्रमित हो जाती है। उनकी आसक्ति भोगों में ही बनी रहती है। इन भोगों को भोगूँ मुझे ये भोग पदार्थ मिल जायँ और साथ ही इन सब भोग्य सामग्रियों का स्वामित्व भी मुझे मिल जाय। मेरा ठाठ-बाठ विपुल ऐश्वर्य भी बना रहे। ऐसे लोगों की व्यवसायात्मिका बुद्धि, योगमयी बुद्धि अर्थात् आत्म-तत्त्व को निश्चय करने वाली—सदसद् विवेकनि बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। वे लोग चाहें कि अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करके एकाग्रचित्त होकर समाधिमग्न हो जायँ तो नहीं हो सकते।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! ये कर्मकांडी मीमांसक लोग स्वर्ग को ही अपना अन्तिम ध्येय क्यों मानते है?"

सूत जी ने कहा—"भगवन्! जिनके अन्त:करण की जहाँ तक पहुँच है, वहीं तक की बातें तो वे सोच सकेंगे। एक आदमी ने एक महात्मा से पूछा—"पहिले तो जो भी ऋषि तपस्या करता था, उसी के सामने स्वर्गीय अप्सरायें आ जाती थीं, आजकल अप्सरायें क्यों नहीं आती ?"

इस पर उन महात्मा ने कहा—"पहिले तो लोग इन सब संसारी भोगों का मन से परित्याग करके तपस्या करते थे। उन्हें इस लोक के भोग विषवत् लगते थे, इसलिये इस लोक के भोग तो उन्हें लुभा नहीं सकते थे, तब दिव्य लोक की अप्सरायें आया करती थीं। आजकल के लोगों के मन से तो इस लोक के भोगों की ही इच्छा नहीं गयी हैं। वे इसी लोक की तनिक सी सुन्दरी को देखकर फिसल जाते है। उनके लिये भला स्वर्ग की अप्सरायें क्यों आने लगी। जो गुड़ की डरी से ही मर जाय, उसके लिये तीक्ष्ण विष का प्रयोग व्यर्थ है। जो इस लोक के भोगों को तुच्छ समझकर वैदिक विधि से स्वर्गीय सुख के लिये अनुष्ठान करते है, उन्हे स्वर्ग के दिव्य सुख प्राप्त होते है। किन्तु ये सुख भी क्षयिष्णु हैं, जन्म-मृत्यु को देने वाले हैं। दु:खप्रद है। विवेकी पुरुष जब इनकी भी इच्छा का परित्याग करके व्यवसायात्मिका बुद्धि को समाधि में स्थिर कर लेगा उसे ही यथार्थ अमृतत्व (मोक्ष की) प्राप्ति हो सकेगी। इसलिये सच्चे जिज्ञासुओं को इन अर्थवाद वाली—देखने सुनने में लुभावनी लगने वाली वाणी के लोभ में न फंसना चाहिये। उनके फलों के लालच में पड़कर अपनी बुद्धि को भ्रान्त न बनाना चाहिये। कर्मों को करें, किन्तु फल की आसक्ति का परित्याग करके करे। तीनों गुणों सेऊपर उठ कर श्रद्धा भक्तिपूर्वक कर्तव्य बुद्धि से कर्म करने चाहिये। इसी का निरूपण भगवान् आगे करेंगे।

छप्पय

स्वरग माहिँ सुख भोग जगत ऐश्वर्यहु पावैं।
जनम मरन तिनि नहीं छुटे पुनि आवैं जावैं॥
पुष्पित वानी हरषो चित्त आसक्त अधम जे।
करम त्याग नहिँ करें सुफल हित करम करें ते॥
जे विवेकन तैं रहित हैं, बुद्धी जिनकी नहिँ विमल।
आत्मतत्त्व निश्चित करन, धी नहिँ भोगें करम फल॥

तुम गुणातीत हो जाओ

[२३]

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥*

(श्री भा० गी० २ अ० ४५,४६ श्लो०)

छप्पय

सात्त्विक राजस और तामसिक तीनि गुननिकों।
प्रतिपादन नित करें वेद साधन करमनिकों॥
करम रूप संसार द्वन्द गुन फल उपजावै।
होवै कैसे मोच्छ करम फल ही नर पावै॥
फल की आशा छोड़िकें, करै करम करतव्य तू।
आत्मवान निर्द्वंद बनि, नित्य सत्त्व निश्चिन्त तू॥

---

*हे अर्जुन! वेद त्रैगुण्य विषय वाले हैं, तू इन तीनों गुणों से रहित निर्द्वंद, नित्य सत्त्व में स्थित, योगक्षेम की चिन्ता न करने वाला आत्म परायण हो जा॥४५॥

जिसके चारो ओर जल ही जल भरा हुआ है, ऐसे पुरुष का जितना प्रयोजन छोटे जलाशय में रहता है, उतना ही प्रयोजन ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण का वेदों में रह जाता है॥४६॥

उपनिषदों को छोड़कर जो कर्मकाण्ड को प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ हैं, साधारणतया उन्हें ही 'वेद' कहा गया है। और औपनिषद् ज्ञान को वेद का अन्तिम तत्व होने से वेदान्त कहा गया है। वेद में सौ में से ९० भाग कर्ममूलक ही हैं। इसलिये कर्म को ही सब कुछ मानने वाले मीमांसकों का कहना है, कि वेद का प्रतिपाद्य विषय कर्म ही है। कर्मकाण्ड में क्या है, तीनों लोकों की ही बात है, क्योंकि वेद सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की ही विधि निषेध का वर्णन करता है। जब तीनों गुणों की बात कही जायँगी तो वे स्वाभाविक ही द्वन्द्व परक होंगी। क्योंकि सत्व से सुख होगा तो तम से दुःख। वैदिक कर्म करने वालों की कीर्ति होगी तो न करने वालों की अकीर्ति। जो विधि विधान से वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करेगा वह सुखी होगा, न करने वाला दुखी। इसी प्रकार सबको समझो। जो त्रिगुणों में स्थित रह कर कर्म करेगा उन्हें गुणों के अनुसार ही फल मिलेगा। जैसा कर्म करेगा उसे उसके अनुरूप फल की प्राप्ति होगी, फिर उन प्राप्त हुए फलों की रक्षा के लिये भी यज्ञ याग करना पड़ेगा कि यजमान के पुत्र पौत्र, पशु, धन, धान्य की-अमुक देवता रक्षा करें। कर्म करने वाला मन के अनुकूल काम करेगा। जिससे उसे मनोनुकूल पदार्थों की प्राप्ति हो। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि त्रैगुण्य कर्म हमें तीनों लोकों के भोग और ऐश्वर्य में ही फँसाये रखेंगे। अतः हमें तीनों गुणों से ऊपर उठकर वेदों से ऊपर उठकर वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार कार्य करना चाहिये। इस पर यह शंका होती है, कि तब तो आप वेदों का खंडन करते हो, उनके कहे अनुसार कर्म करने को मना करते हो। बात ऐसी नहीं। आप कहते हो भाई लड्डू खाओ तो यहाँ सीमा है केवल लड्डूओं में ही। हम कहते हैं मधुर रस का आस्वादन करो। इसमें समस्त मीठे

पदार्थ आ गये उनमें लड्डुओं का अन्तर्भाव होगा। तुम मीमा बाँधते हो वेदान्तनिष्ठ पुरुष निस्सीम होने को कहते है। लड्डू का रसास्वादन करने वाले का मुख तो मीठा होगा उसे मधुरता का आनन्द मिलेगा, किन्तु वह रसगुल्ला के स्वाद मे वंचित रहेगा। किन्तु समस्त मधुर रस का आश्वादक लड्डू के साथ उससे भी उत्तम निस्सीम 'रसो वै म:' का भी महान् आनन्द लूटेगा, इसलिये तीनों गुणों की संकुचित सीमा में ही फँसे मत रहो। गुणातील रस को चखो इसी की शिक्षा भगवान् अर्जुन को देते हैं।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने वाले वेद त्रिगुणात्मक हैं। अर्थात् इर फिर कर संसार को ही देने वाले हैं। कर्म की प्रशंसा करती हुई श्रुति कहती है—"समस्त कामनाओं की प्राप्ति दर्शपूर्णमास यज्ञ से होते हैं अर्थात् अमावस्या और पौर्णमासी के दिन की हुई इष्टि के द्वारा समस्त कामनायें पूर्ण होती हैं, किन्तु रोचक वाक्य है। दर्शपूर्णमास यज्ञ कराने करने वाले छोटी-छोटी कामनाओं के लिये व्यग्र रहते हैं। इन गुणों को लक्ष्य करके जो-जो कर्म किये जायँगे उनमें क्लेश, चिन्ता, वासना वनी ही रहेंगी इसलिये तुम इन तीनों गुणों से अतीत निस्त्रैगुण्य हो जाओ। जब तुम तीनों गुणो मे ऊँचे उठ जाओगे तो गुणकृत दोप तुम्हें बाधा ही नहीं पहुँचायेंगे। साधारणतया फल के उद्देश्य से जो कर्म किये जाते हैं उनसे सुख हो सुख मिले सो भी बात नहीं विधि का विपर्यय होने से, सामग्री अशुद्ध होने से, मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण होने से सुख के स्थान में दु:ख भी मिल सकता है। लाभ भी हो सकता है हानि भी हो सकती है। यश भी मिल सकता है अपयश भी मिल सकता है। मान भी हो सकता है अपमान भी हो सकता है। दक्ष तो वैदिक विधि से वृहस्पतिशव यज्ञ हो कर रहा था। उसे दु:ख ही मिला, अपमान

ही हुआ। इस प्रकार त्रिगुणों का किया हुआ कार्य तो सद्वन्द्व होगा ही। इसलिये तुम द्वन्द्वों से ऊँचे उठकर कार्य करो। द्वन्द्वों की परवाह ही न करो। कर्तव्य समझ कर मेरी प्रसन्नता के निमित्त कर्तव्य कर्मों को निर्द्वंद्व बन कर करो।

सत् स्वरूप मैं भगवान् ही हूँ। इसीलिये मैं त्रिगुण वाले सत्त्वगुण में नहीं रहता मेरा एक 'नित्य सत्त्व' इस त्रिगुण वाले सत्त्व से पृथक है। इसलिये उसे मुझे 'नित्य सत्त्व' कहते हैं तुम उसी में स्थित होकर अर्थात् मत्परायण होकर कर्म करो।

जो लोग तीनों गुणों के अधीन होकर कार्य करते हैं उन्हें अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की चिंता करनी पड़ती है। पुत्र नहीं है तो पुत्रेष्टि यज्ञ करके पुत्र की प्राप्ति करो। जो प्राप्त वस्तु है उसकी रक्षा की भी चिंता करनी पड़ती है। उसे क्षेम कहते हैं इसलिये यज्ञकर्ता के लिये यजमान अग्नि से प्रार्थना करता है कि यजमान के धन धान्य, पशु तथा परिवार की रक्षा करो। त्रिगुणों में रहकर कर्म करने वाले को योग और क्षेम की चिंता करनी पड़ती है। तुम मत्परायण होकर मेरा ही अनन्य भाव से चिंतन करो। योगक्षेम की चिंता तुम स्वयं मत करो। तुम्हारे योगक्षेम का वहन तो मैं स्वयं करूँगा। जो त्रिगुणों में रहकर कार्य करता है उसे चित्त के अधीन होकर काम करना पड़ता है। वह चाहता है सुख सामग्री मेरे मनोनुकूल हों, किन्तु तुम मन बुद्धि से ऊपर जो आत्मा है उसमें स्थित होकर आत्मनिष्ठ आत्मवान् बन जाओ।

देखो, भैया! एक साधक है, यमुना जी के खादर में रहकर तपस्या करता है जहाँ उसकी कुटा है, उससे थोड़ी दूर पर एक छोटा सा तालाब है, उस तालाब से वह साधक पानी लाता है, उसी में जाकर स्नान करता है, कपड़े धोता है। सब

काम उसी में जाकर करता है। श्रावण भादों में यमुना जी के बढ़ आने पर उसकी कुटिया के चारों ओर यमुना जी का जल ही जल भर गया। अब उसे उस छोटे तालाब में जाकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं करनी पड़ेगी। अब तो उसके चारों ओर जल ही जल भरा है, जिधर से चाहे बिना पात्र के ही जल पी ले। जिधर चाहे उतर कर स्नान कर ले। जिधर चाहे बैठकर कपड़े धो ले। अब तो वह जल के बीच में बैठा है, जिस सरोवर से वह जल लाता था, वह भी जल मग्न है। इसी प्रकार वे वोक्त कर्मकांड के अनुसार कर्म करने पर उन कर्मों द्वारा जो फल मिलता है, उससे कहीं सौ गुना सहस्र गुणा लक्ष्य गुणा अनन्त गुणा फल ब्रह्मतत्व का साक्षात् कार करने वाले जिज्ञासु को स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। जैसे बाढ़ आ जाने पर छोटी तलैया डूबकर पूरी विशाल जल राशि में विलीन हो जाती है उसी प्रकार ये क्षुद्र स्वर्गीय सुख ब्रह्मानंद रूपी अमृत सागर में मिलकर विलीन हो जाते हैं, इसलिये सकाम कर्मों के प्रति आशक्ति को छोड़कर निष्काम कर्मों की ओर ध्यान दो। फल की आशा ही दुःख का हेतु है। इसलिये फलाशा को छोड़कर कर्म करो।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! भगवान् कर्म का निषेध नहीं कहते, किन्तु कृपणता का परित्याग करने को कहते है। फल की आशा से कर्म करने वाले को ही कृपण कहा गया है। उदार वे लोग हैं जो फल की इच्छा न रखते हुए प्रभु प्रीत्यर्थ कार्य करते हैं। इसी का उपदेश भगवान् आगे देंगे।

छप्पय

चहुँ दिशि पानी भरयो बाढ़ सब दिशितैं आई।
भूमि न दीखे कहुँ नीर ही नीर दिखाई॥
क्षुद्र जलाशय माहिं फेरि ज्ञानी च्यों जावै।
परिपूरन जल भरयो तहाँ ही प्यास बुझावै॥
विज्ञवेदविद् तत्त्व लखि, ज्ञानी जब बनि जायगो।
करमकांडयुत वेद में, फल हित नहिँ भरमायगो॥

विना फल चाहे अनासक्त होकर कर्म करो

[२४]

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० ४७, ४८ श्लो०)

छप्पय

करमनि खण्डन नाहिँ करो तुम करमनि डटिकैं।
करमकाण्ड है व्यरथ समुझि जाओ नहिँ हटिकैं॥
किन्तु करम अधिकार न तिनिके फलकूँ चाओ।
करो करम निष्काम नहीं फल हित ललचाओ॥
बनूँ करम फल हेतु नहिँ, करतव मेरो यही कहि।
नहीं करौंगो करम कछु, ऐसी हू आसक्ति नहि॥

जीवत्व कर्मों के ही कारण है, कर्म न हों तो वह जीव नहीं शिव है। पूर्णत्व की उपलब्धि तक कर्म करते रहना चाहिये।

---

* हे अर्जुन! तू अपना अधिकार कर्म करने में ही समझ, उसके फल में तेरा कभी भी अधिकार नही है। तू कर्मों को फल के हेतु से

कर्म काण्डी कहते हैं। कर्म किसी उद्देश्य को लेकर किसी फल की आशा से-किया जाता है। इस कर्म से मेरा यह प्रयोजन सिद्ध हो जाय; प्रयोजन के बिना तो मंद बुद्धि भी कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता। अतः भोग ऐश्वर्य के निमित्त ही कर्म करना चाहिये। योग क्षेम सुचारु रीति से चले इस लोक में हमें पूर्ण सुख मिलें, परलोक में दिव्य सुख मिले यही कर्म करने का प्रयोजन है। कर्म ही सब कुछ है उसमें ईश्वर का हस्तक्षेप नहीं। ज्ञान मार्गी कहते है ब्रह्म एक है, उसमें कोई दूसरा है ही नहीं। वह ब्रह्म सत्य ज्ञान आनंदघन है। वह ब्रह्म "अहं" पदवाच्य से पृथक नही। अहं कह लो या ब्रह्म कह लो एक ही बात है। ज्ञानी को स्व-स्वरूप का सतत अनुसंधान करते रहना चाहिये। ब्रह्मज्ञानी ही उस एक अद्वय तत्व का अखण्डाकार वृत्ति से अनुभव कर सकता है। कर्ममात्र बन्धन के कारण हैं इसलिए ब्रह्मवेत्ता को इहलौकिक पारलौकिक समस्त कर्मों का परित्याग करके संन्यास धर्म का पालन करना चाहिये। सन्यास धर्म का पालन करना भी विधि है उसे विधि निषेध दोनों से पृथक होकर निष्क्रिय निरंजन निर्लेप नित्य सत्वस्थ कूटस्थ बन जाना चाहिये। जब इसमें अहं पदवाच्य ही ब्रह्म है तो ईश्वर की पृथक् कोई आवश्यकता नहीं। कर्म मार्ग भी स्वतंत्र और ज्ञान मार्ग भी अपने में स्वतंत्र। भगवान् एक मध्य मार्ग बताते है, उसे वैदिक परिभाषा में उपासना कहते है, पौराणिक परिभाषा में भक्ति कहते हैं और

मत कर और न कर्मों में आसक्ति वाला ही बन॥४७॥

हे धनञ्जय! तू योगस्थ होकर आसक्ति को त्यागकर सिद्धि और असिद्धि में समभाव रखकर कर्मों को कर क्योंकि समत्व बुद्धि को ही योग कहते हैं॥४८॥

श्रीमद्भगवत् गीता की परिभाषा में निष्काम कर्म योग कहते हैं। उपासना कहो, भक्ति कहो, निष्काम कर्म योग, बुद्धियोग या केवल योग ही कहो सबका एक ही अर्थ है। भगवान् उसकी चतुःसूत्री अर्जुन को बताते हैं।

भगवान् ने कहा—देख अर्जुन! तू नर है समस्त जीवमात्र का प्रतिनिधित्व करता है। मैं नारायण हूँ, ईश्वर हूँ, ब्रह्म हूँ, परमात्मा हूँ तेरा सच्चा सुहृद् सखा आत्मीय हूँ, इसलिये मैं तुम्हें एक चार सूत्रों वाला सिद्धान्त बताता हूँ। (१) पहिला तो यह कि जीव मात्र का अधिकार कर्म करने में है। जीव बिना कर्म किये एक क्षण रह ही नहीं सकता। यह शरीर ही कर्म भोग के निमित्त-प्रारब्ध कर्मों के भोगने के निमित्त मिला है। जब कर्मों द्वारा ही शरीर प्राप्त हुआ है, प्रारब्धानुसार ही कर्मों में प्रवृत्त होता है तो उन्हें छोड़ना भी चाहे तो कैसे छोड़ सकता है। कर्म करना उसका स्वत्व है, जन्म सिद्ध अधिकार है। परन्तु (२) दूसरी बात को और स्मरण रखो। जैसा तुम्हारा अधिकार या स्वत्व कर्म करने में है, वैसा अधिकार कभी भी उसकी फल प्राप्ति में नहीं है।

शौनक जी ने कहा—सूत जी! यह तो एकदम उलटी बात हो गयी। हम जिस उद्देश्य को लेकर कर्म करते हैं उसका फल हमें मिलेगा ही आम का पेड़ हम लगावेंगे, उसके फलों के अधिकारी भी हम होंगे ही। अंगूर की बेल लगावेंगे तो उसके फल हम खावेंगे ही। मनुष्य जो भी कर्म करता है फल की आशा रखकर कर्म करता है, किसान खेत बोता है, तो इसी आशा से बोता है मुझे अन्न रूपी फल मिले। मनुष्य विवाह करता है तो इसी आशा से कि मेरे पुत्र हो, मेरी वंश परम्परा अक्षुण्य बनी रहे। फल की आशा के बिना तो कोई काम आरंभ किया

ही नहीं जा सकता। कर्म के फल की आशा में तो जीव का अधिकार होना चाहिये इसीलिये सभी कर्म फल के संकल्प से किये जाते हैं।

सूत जी ने कहा—भगवन्! जैसे कर्म करने में हमारा अधिकार है वैसे फल प्राप्ति में हम स्वतंत्र नहीं। राजा नृग ने तो दान स्वर्ग की कामना से किया था, उसे योनि मिली गिर गिट की। श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी के सहित युवराज होने की पूर्वरात्रि में युवराज होने के लिये उपवास किया था, किन्तु उन्हे हुआ बनवास। तो जो कर्म हम कर रहे हैं उसका फल तो अदृष्ट के अधीन है। उसमें हमारा अधिकार नहीं। फल मिले न मिले अनुकूल फल मिले, प्रतिकूल मिले यह तो दवाधीन है। इसी लिये भगवान् ने दूसरा सूत्र कहा—"कर्म के फलों में तुम्हारा अधिकार कभी नहीं है।"

शौनक जी ने पूछा—"(१) कर्म करने मे जीव का अधिकार है। (२) कर्म के फलों में अधिकार नहीं। ये दो सूत्र हो गये। अब तीसरा बताइये।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! तीसरे में इन दोनों का निचोड़ बताते हुए भगवान् कहते हैं—(३) "इसलिये तुम वैदिक कर्म-कांडियों की भाँति-मीमासकों की भाँति-कर्मों के फल का हेतु मत बनो। अर्थात् मेरे इस कर्म से मुझे यह फल मिले इस संकल्प से कर्म मत करो।"

शौनक जी ने कहा—सूत जी! यह भी सर्वथा विपरीत बात है। जब तक भीतर से कोई संकल्प न होगा, तब तक कोई कार्य होगा ही नही। विना संकल्प के तो श्वास प्रश्वास भी नहीं ले सकता बिना सकल्प के तो पलक भी नही मार सकता। चाहें

कितना भी सूक्ष्म सहज संकल्प क्यों न हो। कर्म तो संकल्प ही द्वारा होते हैं।

सूत जी ने कहा—"कर्म करना ही चाहिये, कर्म करना मेरा कर्तव्य है इसी संकल्प से करे।"

शौनक जी बोले—"कर्तव्य में भी तो कुछ न कुछ हेतु होना चाहिये। इस लोक के सुख का हेतु परलोक के सुख का हेतु कुछ तो होना हो चाहिये।"

सूत जी बोले—चाहे इस लोक का हो या स्वर्गीय सुख का हो लौकिक हेतु बन्धन कारक है यदि आप हेतु के बिना नहीं ही मानते तो हम कहते हैं, प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करना चाहिये। जो सहज कर्तव्य कर्म सम्मुख आ जाय तो यही संकल्प करे। इस कर्म के द्वारा सर्वात्मा श्री हरि प्रसन्न हों। संसारी फलों के हेतु मत बनो। क्योंकि चाहे यहाँ का सुख हो, या स्वर्ग का ये सब क्षयिष्णु तथा अंतवन्त है। अतः इनके उद्देश्य से कर्म न करें।

शौनक जी ने पूछा—"चौथा सूत्र कौन सा है।"

सूत जी ने कहा—चौथा अंतिम सूत्र बताते हुए भगवान् अर्जुन को सावधान करते हुए कहते हैं—"देखो, अर्जुन सावधान, (४) कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये।" अर्थात् तुम सोचो—"कर्म कैसा भी किया जाय, उससे क्लेश ही होता है। कर्म अज्ञान जन्य है, जब कुछ कर्म फल में अधिकार ही नहीं तो हम कर्म करें ही क्यों? तो यह भी उचित नहीं। जैसे कर्मासक्त पुरुष कर्मों में आसक्त होकर कर्मों को करते हैं वैसे ही कर्म न करने की भी तो एक आसक्ति ही है और आसक्ति

ही बंधन का मूल कारण है। इसलिये कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति न होनी चाहिये।

इन चारो सूत्रों का तात्पर्य यही हुआ कि कर्म करने की कर्म न करने की, फल प्राप्ति की, फल न प्राप्ति की सभी आसक्तियो का परित्याग करके कर्तव्य बुद्धिसे प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करते रहना चाहिये। कर्मों को योगस्थ होकर करें। योगस्थ माने ज्ञान कर्म दोनों को मिलाकर करे। कर्म कांडियों की तो इस बात को मान ले कर्म करना चाहिये और ज्ञान कांडियों की इस बात को मान ले कि फल की आशा की न करनी चाहिये। सर्वथा कर्मों में आसक्त भी न हो और सर्वथा कर्मत्याग में आग्रह न करे। आसक्ति का परित्याग करके कर्म करे। इसमें एक बड़ा लाभ है। हमने अमुक कामना के संकल्प से कर्म किया यदि वह सिद्ध हो गया। वे भोग प्राप्त हो गये तो हमें हर्ष होगा, न प्राप्त हुए तो विषाद होगा। जहाँ हर्ष विषाद है वहाँ सच्चा सुख नहीं। इसलिये सिद्धि असिद्धि की ओर ध्यान ही न दे उसमें समभाव रखे। सिद्धि हो जाय तो श्रेष्ठ न हो जाय तो उससे भी श्रेष्ठ। यह भावना रखे कि मंगलमय भगवान् जो भी करेंगे सब मेरे मंगल के लिये, कल्याण के लिये भले के लिये करेंगे। शिव का कोई कर्म अशिव नहीं हो सकता। सब कर्म शिवमय है मगलमय है आनंदमय है इसी समत्व बुद्धि को योग कहते हैं। उपासना कहो भक्ति कहो, निष्काम कर्म योग कहो, फलाशा परित्याग वर्ताव कहो नाम चाहे जो रख लो। क्योंकि नाम रूप दोनों मिथ्या है। एक भगवान् का नाम और भगवान् का रूप ये ही सत्य हैं। इसलिये योगस्थ होकर ज्ञानकर्म के समुच्य पूर्वक कर्म करना चाहिये।

सूत जी कहते हैं--मुनियो आगे भगवान् फिर इसी बात को और स्पष्ट रूप से खोलकर समझावेंगे।

छप्पय

योगयुक्त बनि करम करे जा पट्ठे! अब तू!
जानि करम करतव्य त्यागि करमनि के फल तू।।
सिद्धि असिद्धि समान समुझि आसक्ति न लावै।
तो फिरि करिकैं करम तऊ समबुद्धि कहावै।।
फल हित करिवो करम तो, उभय लोक को भोग है।
सुख दुख सिद्धि असिद्धि में, सम रहनो ही योग है।

कर्मों को कुशलता पूर्वक करना ही योग है

[२५]

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युजस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥*

(श्री भग० गी० २अ० ४६, ५० श्लोक)

छप्पय

कहाँ करम निष्काम कहाँ फल इच्छा धरिकें।
बुद्धियोग सम कह्यो विषम विषयनि में फसिकें॥
है सकाम अति तुच्छ अन्त में सब दुखदाई।
बुद्धियोग की शरन जाउ संशय मिटि जाई॥
क्षुद्र करम फल भोग हैं, नाशवान ऐश्वर्य धन।
फलहित जे करमनि करें, तेई जग में अति कृपन॥

---

* हे धनञ्जय! बुद्धियोग से सकाम कर्म अत्यन्त छोटा है। इसलिए तू समत्व बुद्धि का ही आश्रय ग्रहण कर क्योंकि फल की इच्छा से काम करने वालों का ही नाम कृपण है ॥४६॥

जो पुरुष समत्व बुद्धि से युक्त है, वह इसी लोक में सुकृत (दुष्कृत पुण्य) पाप दोनों का त्याग कर देता है। इसलिये तुम योगस्थ होने के लिये उद्योग करो, कर्मों में कुशलता प्राप्त करने का ही नाम योग है॥५०॥

संसार में न कोई बुरा है न भला। भावना से ही उसमें बुरे भले की कल्पना की जाती है। एक वस्तु है नीचे से देखो तो उसका कुछ और ही रूप दीखेगा। उसे उसके समान अन्य वस्तुओं से पृथक् करके देखेंगे। आप जितने ही ऊँचे चढ़ कर देखेंगे उतना ही भेद भाव विलीन होता जायेगा। उसका रूप भी भिन्न दिखाई देने लगेगा। इसलिये दृष्टि को उदार करके देखो। संकुचित दृष्टि से मत देखो। ऊँची दृष्टि करके देखो, नीचे स्तर पर उतर कर मत देखो। पर की ओर दृष्टि लगाकर देखो ऊपर की ओर दृष्टि मत रखो। छोटे 'स्व' का नाम ही स्वार्थ है। 'स्व' ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा वह परमार्थ होता जायगा। केवल मेरा शरीर सुखी रहे। यह संकुचित स्वार्थ है, मेरा परिवार सुखी रहे। यह उससे विस्तृत है, मेरा ग्राम जन पद सुखी रहे यह उससे भी विस्तृत है। मेरा प्रान्त, मेरा देश मेरा महाद्वीप, मेरा विश्व ब्रह्माण्ड सुखी रहे। यही क्रम-क्रम से परमात्म का विस्तृत महान् विस्तृत स्वरूप है। इसीलिये परम परमार्थमयी हम प्रार्थना करते हैं—"सभी सुखी रहे सभी निरामय (रोगरहित) हों सभी कल्याण मार्ग को देखने वाले हों। संसार में कोई भी दुखी न हो। कृपा सीमित पुरुषों पर (अपने सगे सम्बन्धियों) पर की जाती है। ज्यों-ज्यों कृपा का क्षेत्र बढ़ता जाता है, वही कृपा दया के रूप में परिणित होती जाती है अपनी सीमा को बढ़ाते-बढ़ाते निस्सीम हो जाती है। कृपा सदा फल को आगे रखकर की जाती है। दया सहजभाव से निष्काम बुद्धि से कर्तव्य समझ कर की जाती है। जो प्रत्येक कार्य को फल की ही दृष्टि से करते हैं। लाभ को ही आगे रख कर प्रवृत्त होते है वे ही कृपण कहाते हैं। इसलिये उदार होना चाहिये। कृपणता का परित्याग करना चाहिये। वस्तु तो एक ही है केवल भाव को ही बदलना पड़ता है।

सूत कहते हैं—"मुनियो! सकाम कर्म और निष्काम कर्म देखने में एक से ही होते हैं, क्रिया भी एक सी ही करनी पड़ती है, किन्तु कर्म एकसे से होने पर भी भावना के कारण उनमें गुरुत्व और लघुत्व की कल्पना करनी पडती है। भगवान् श्रीकृष्ण रूप से दुर्योधन की राज सभा में गये और वामन रूप से वलि की यज्ञशाला में गये। भगवान् एक ही है। दोनों राजा थे दोनों ही स्थानों में याचना करने ही गये। किन्तु भावना में अन्तर था। दुर्योधन के यहाँ वे परमार्थ दृष्टि से गये, समझा बुझाकर कुछ माँगने के लिये गये। वह याचना भी अपने स्वार्थ के निमित्त नहीं, पांडवों के निमित्त परमार्थ के निमित्त थी। वे युद्ध बन्द कराकर भूमडल के राजाओं का विनाश न हो इस उद्देश्य से गये। उनके जाने का एकमात्र उद्देश्य प्राणिमात्र का उपकार था। इसीलिये कितने ठाठ बाठ से कितने निर्भय होकर गये। दुर्योधन ने भी उनके आगमन पर कैसी उदारता दिखायी। मार्ग के उनके स्वागत सत्कार का, ठहरने भोजन का कितना राजसी प्रबन्ध उसने कराया। उसने कहा—श्रीकृष्ण के आने पर मै उन्हें इतने हाथी दूंगा इतने घोड़े, इतने दास दासी दूंगा। उनके साथी जो वस्तु खाने पीने आदि की माँगेगे उनसे कई गुनो मै दिया करूंगा। उसने उनके स्वागत में पूरी उदारता वरती। श्री कृष्ण किसी निजीस्वार्थ से, लालच से या निजी फल की इच्छा से तो गये नहीं थे। भय तो स्वार्थ में होता है, निस्वार्थी तो सदा निर्भय होता है, सिंह के समान गर्जता रहता है। श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के स्वागत सत्कार की कुछ भी परवाह न की। वे उन सब पदार्थों पर लात मार कर विदुर के घर चले गये। दुर्योधन के यह पूछने पर कि महाराज! आपने मेरे घर भोजन क्यों नही किया? तो आपने बिना लगाव लपेट के निर्भय होकर कह दिया—

"राजन् ! भोजन दो कारणों से किया जाता है, या तो कराने वाले का प्रेम हो, या अपने ऊपर कोई विपत्ति हो। सो राजन ! तुम्हारा मुझमे प्रेम तो है नही, न मेरे ऊपर कोई विपत्ति ही है, इसलिये शत्रु का अन्न नहीं खाना चाहिये।"

दुर्योधन ने कहा—"मेरी आपकी शत्रुता कैसी आपतो मेरे सम्बन्धी हैं। मेरी सगी लड़की आपके सगे लड़के से विवाही है।"

भगवान् ने कहा—विवाहने से क्या होता है रुक्मी ने तो अपनी बहिन, अपनो लडकी, अपनी पोती तीन-तीन लड़कियाँ हमारे घर में विवाही थी, फिर भी वह हमसे सदा शत्रुता ही मानता रहा। पांडव मेरे मित्र हैं। मित्र का शत्रु अपना भी शत्रु होता है। अतः तुम मेरे शत्रु हो।" बताइये इतनी निर्भीकता से, उन्हीं के नगर में उन्हीं के राज्य में कोई स्वार्थ से याचना के लिये गया हुआ व्यक्ति कह सकता है। भगवान् ने अपना विराट रूप भी दिखाया। इतनी निर्भीकता निष्काम भाव से परमार्थ भावना के कारण जाने के कारण थी।

उसी प्रकार वामन भगवान् भी याचना करने गये। किन्तु वे गये स्वार्थ भावना से, अपने लिये भूमि माँगने के निमित्त। इसलिये बहुत छोटे बौना बनकर गये। क्योंकि परमार्थ की अपेक्षा स्वार्थ बहुत निम्न स्तर का है। स्वार्थीयाचक मे सभी भयभीत होते हैं, अतः वामन भगवान् जब स्वार्थ साधने चले तो बेचारी पृथिवी भी डगमगाने लगी। उनके पैर-पैर पर नत हो जाती थी, कि इस स्वार्थी के बोझ को मैं सहन नहीं कर सकती। जो फल की इच्छा से कर्म करने जाता है, उसका हृदय संकुचित हो जाता है वह गर्जकर बोल नहीं सकता। दीनता से रिरिया कर बोलेगा। उसे झूठी प्रशंसा करनी पड़ती है। दूसरों को बढ़ा-चढ़ा कर स्तुति करनी पड़ती है। वामन भगवान् ने राजा बलि

की बड़ी भारी दीनता के साथ स्तुति की उसके पिता, पितामह, प्रपितामह की झूठी स्तुति की। विष्णु को उनके सामने भगोड़ा और स्वल्पवीर्य सिद्ध किया। राजा के पुरोहित की झूठी स्तुति की। फिर जब राजा ने उनकी याचना के अनुसार भूमि दे दी तब इनकी तृष्णा और बढ़ी। लाभ से लोभ बढ़ा ही करता है, इन्होंने अन्याय से, अधर्म से धोखाधड़ी करके उसका सर्वस्व छीन लिया। क्योंकि लोभी की कभी तृप्ति होती ही नहीं उसे चाहें जितना दे दो। वह अपने अंगों को बढ़ाता ही जाता है बढ़ाता ही जाता है। इस प्रकार भगवान् ने दो स्थानों में विराट् रूप दिखाकर यह सिद्ध कर दिया कि सकाम में और निष्काम में, आसक्ति में और अनासक्ति में, स्वार्थ में और परमार्थ में बहुत अन्तर है परमार्थी निस्वार्थी उदार और निर्भय रहता है। सकामी स्वार्थी-आसक्ति वाला भयभीत और कृपण होता है। वह स्वार्थवश निर्भय होकर बातें नहीं कर सकता। इसी बात को बताने के लिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन को समझाते हुए कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! देखो, जिनके पास द्रव्य अधिक होता है, वे द्रव्य के धनी कहलाते हैं। जिनके पास विद्या अधिक होती है वे विद्या के धनी कहाते हैं, जिनके पास तप अधिक होता है वे तपोधन कहाते है। तुम्हारा धन विजय ही है। तुम जहाँ भी जाते हो, जिससे भी युद्ध करते हो विजय श्री तुम्हारा ही वरण करती है। विजय ही तुम्हारा धन है। इसीलिये तुम संसार में धनञ्जय के नाम से विख्यात हो। फिर भी तुम कृपणता कायरता क्षुद्रता करते हो। देखो, यह सकाम कर्म बुद्धियोग अर्थात् निष्काम कर्म की अपेक्षा बहुत ही निम्न कोटि का है। तुम जैसे विजय के धनी इस निम्न कोटि के कर्म को मत अपनाओ। तुम बुद्धि

की शरण में जाओ। कैसी बुद्धि, जो भगवान् में लगी हो, परमात्मतत्त्व को ही सर्वश्रेष्ठ समझती हो, उसी बुद्धि को अपनाओ। क्योंकि फल की कामना रखने वाले पुरुष तो कृपण होते हैं, दीन होते हैं। स्वार्थी होते हैं और क्षुद्राशय वाले होते हैं। देखो, जो परमात्म बुद्धियुक्त पुरुष हैं; उसकी दृष्टि द्वैत भाव से रहित हो जाती है। ऐसा बुद्धियुक्त पुरुष सुकृत और दुष्कृत(पुण्य और पाप) दोनों को ही त्याग देता है। वह समत्व बुद्धि का आश्रय ले लेता है। इसलिये तुम जो भी कुछ प्रयत्न करो वह बुद्धियोग के लिये ही करो। कर्मों को कुशलता पूर्वक ही करने का नाम योग है। उन्हीं कर्मों को जो बेमन से अनिच्छा से अकुशलता से करता है वह अयोगी है। इसलिये तुम तो धनञ्जय हो, अयोगी न बनके तुम योगी बन जाओ।"

सूत जी कहते हैं—मुनियो! आगे इसी बात को भगवान् फिर अर्जुन से कहेंगे उसे आप दत्त चित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

बुद्धियोगयुत पुरुष नहीं बन्धन में आवै।
पाप पुण्य कूँ त्यागि फेरि तन तजिकें जावै॥
पाप पुण्य फल भोग हेतु तनकूँ पुनि धारै।
लहै पुरुष समभाव असत सतबुद्धि विचारै॥
तातैं लगि जा योग में, योगयुक्त जे जन रहैं।
करमबन्ध सबरे नसैं, योग करम कौशल कहैं॥

परम पुरुषार्थ समत्व बुद्धि से ही प्राप्त होता है

[२६]

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥*
(श्री भग० गी० २ अ० ५१, ५२ श्लो०)

छप्पय

समबुद्धी में रहैं करम फल त्यागी ज्ञानी ।
बुद्धि विषम बनि जाय करमफल फँसि अभिमानी ॥
नाना करमनि फँस्यो शान्ति वह कैसे पावै ।
फलहित इत उत भ्रमत करम काण्डनि ढिँग जावै ॥
ज्ञानी जन समबुद्धि करि, त्यागि करम फल जात हैं ।
निरविकार पद परम, लहि, दोष रहित बनि जात हैं ॥

धर्म, अर्थ और काम सुख इन तीनों को पुरुषार्थ कहते हैं

---

* क्योंकि कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को समत्व बुद्धि वाले ज्ञानी पुरुष त्यागकर जन्म बन्धन से विनिर्मुक्त होकर निर्विकार अमृतमय पद को प्राप्त होते हैं ॥५१॥

पुरुष का यही अर्थ-प्रयोजन-है कि इस लोक में सुख सम्पत्ति के लिये परलोक में भोग ऐश्वर्य के लिये धर्म सम्बन्धी कर्म करे। अर्थ से धर्म और काम की प्राप्ति होती है। ये सभी कर्मजन्य हैं। कर्म करोगे तो उससे तुममें कर्म करने की पात्रता प्राप्त होगी। जिससे अर्थ की प्राप्ति होगी और अर्थ से धर्म और कामोपभोग कर सकोगे। धार्मिक वेदोक्त कर्मों से परलोक में भोग ऐश्वर्य प्राप्त होगा। इसलिये कर्मों के अनुष्ठान से इस लोक के सुख और परलोक के दिव्यभोग तो मिल ही जावेंगे किन्तु ये भोग नाशवान क्षयिष्णु और परिणाम में क्लेशकर ही होते है। अतः तीन पुरुषार्थ से बढ़कर एक चौथा परम पुरुषार्थ है मोक्ष। मोक्ष की प्राप्ति करने वाले को क्या कर्म न करना चाहिये। इस पर कहते हैं। कर्म तो करो किन्तु समबुद्धि से करो। फल की आशा मत रखो। प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करते जाओ, उसका जो भी परिणाम हो, उसमें अपनी बुद्धि को समभाव में रखो। दुःख तो तभी होता है, हम जो चाहते है, जितना चाहते है, जैसा चाहते हों, वह उतना वैसा न मिले। जब हम फल चाहेंगे ही नहीं फ़ल को ईश्वरार्पण कर देंगे, तो फिर चाहे अनुकूल हो प्रतिकूल हो, पक्ष में हो विपक्ष में हो, सुखप्रद हो दुखप्रद हो, हानिकारक हो लाभदायक हो। सभी में बुद्धि सम रहेगी। भगवान् जो भी करेंगे हमारे हित के लिये, कल्याण के लिये करेंगे। इसी का नाम समबुद्धि है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् एक ही बात पर बार-बार बल देते हुए फिर उसी बात को दुहरा रहे है, कि तुम सभी

जिस समय में तेरी बुद्धि मोहरूप कीच के दल-दल को भली भाँति तर जायगी, उस समय तू सुने हुए और सुनने योग्य समस्त विषयों के प्रति वैराग्य को प्राप्त हो जायगा ॥५२॥

घटनाओं में सन्तुष्ट रहो, सभी में उसी मंगलमय का हाथ देखो। पुराने लोग इस विषय में एक दृष्टान्त दिया करते हैं, वह इस प्रकार है।

एक बड़े प्रजावत्सल राजा थे। उनके एक बड़े धर्मात्मा भगवत् भक्त, सम बुद्धि वाले प्रधान मन्त्री थे। उनका भगवान् पर पूर्ण विश्वास था, वे सभी घटनाओं में समभाव रखते सभी को मंगल मय प्रभु का विधान समझ कर कहते—"बड़ा मंगल हुआ।" पुत्र का पुत्री का विवाह हो, तो भी वे कहें—"बड़ा मंगल हुआ।" और कभी किसी का प्राप्तवयस्क युवा पुत्र भी मर जाय, तो भी वे कहते है—"बड़ा मंगल हुआ।" ऐसे अवसरों पर "बड़ा मंगल हुआ।" उनकी यह बात लोगों को खटक जाती थी, किन्तु राज्य के प्रधान मन्त्री थे कोई उनसे कुछ कहता नहीं था, उनका यह आदर्श वाक्य था, "बड़ा मंगल हुआ" वे मुँह से ही नहीं कहते थे, मन से भी ऐसा ही मानते थे।

एक दिन राजा कोई कार्य कर रहे थे किसी वस्तु को किसी शस्त्र से बना रहे थे उनकी एक अँगुली कट गयी। अँगुली कटकर पृथक् हो गयी। राजा को बड़ी पीड़ा हो रही थी। मन्त्री जी राजा को देखने गये। राजा ने अत्यन्त ही क्लेश के साथ कहा—"मन्त्री जी! मेरी अँगुली कट गयी है।" मन्त्री जी को तो सहज स्वाभाविक आदत ही थी, अपने आप उनके मुख से निकल गया—"बड़ा मंगल हुआ।" इस पर राजा को बडा क्रोध आ गया। उसने सोचा—"मुझे तो बड़ा क्लेश हो रहा है, यह कर रहा है, "बडा मंगल हुआ।" इस पर क्रोध में भरकर राजा ने कहा—"तुमने काम तो ऐसा किया है, कि तुम्हें शूली पर चढ़ा देना चाहिये, किन्तु तुमने इतने दिन राज की सेवा की है, तुम मेरे पिता के सामने से प्रधान मन्त्री हो, अतः तुम्हें शूली तो नहीं

दिलाता, किन्तु मेरे राज्य को छोडकर चले जाओ।" मन्त्री जी के मुख से निकल गया "बड़ा मंगल हुआ।" और इतना कह कर वे सपरिवार उस राजा के राज्य से निकल गये। इन राजा का एक दूसरा पडौसी राजा बड़ा शत्रु था, वह इन राजा को सदा बड़ी हानि पहुँचाता रहता था। अबके भी वह इनके ऊपर चढ़ाई करने का प्रयत्न कर रहा था, उसने जब सुना कि इतने बड़े भगवद्भक्त बुद्धिमान मन्त्री को राजा ने राज्य से निकाल दिया है, तो वह मन्त्री के पास गया और बोला—"आप जैसे भगवत्-भक्त सम बुद्धि वाले प्रधान मन्त्री का मै हृदय से स्वागत करता हूँ, आपको प्रधानमंत्री पाकर मेरी प्रजा कृतार्थ हो जायगी। आप मेरे राज्य के प्रधान मन्त्री बन जाइये।"

मन्त्री ने इसे स्वीकार कर लिया और वे उस राज्य के प्रधान मन्त्री बन गये। प्रधान मन्त्री बनते हो उन्होंने सर्वप्रथम तो यह कार्य किया कि यह राजा जो, पहिले जिसके यहाँ ये मन्त्री जी रहते थे—उन पर चढ़ाई करने की तैयारी कर रहा था, उसे रुकवा दिया, और जिस सोने की खान के सम्बन्ध में शत्रुता थी, उसे कह सुनकर उस पुराने राजा को दिला दी। शत्रुता समाप्त कर दी और दोनों में प्रगाढ़ मैत्री हो गयी।

एक दिन पहिला राजा जिसकी ऊंगली कट गयी थी, वह शिकार खेलने, अपने सैनिक सचिवों के सहित घोर बन में गया। वहाँ एक हिरन का पीछा करते हुए राजा अपने साथियों से पृथक् हो गया। घोर जंगल में जाकर हिरन तो किसी झाड़ी में छिप गया, राजा भूखा-प्यासा अकेला जंगल में भटकने लगा। उसी जंगल की एक गुफा में एक कापालिक शाक्त रहता था। वह देवी के सामने पर्व-पर्व पर नर बलि चढ़ाया करता था। दूसरे दिन उसका बलि चढ़ाने का पर्व था। उसके शिष्य सेवक किसी

बलि पशु पुरुष की खोज में इधर-उधर वनमें घूम रहे थे। राजा को जब वन में अकेले घूमते देखा तो उन्होंने राजा को पकड़ा लिया और कापालिक के पास ले गये। इतने सुन्दर स्वच्छ तेजस्वी पुरुष को देवी का बलि पशु पाकर कापालिक अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने एक स्थान में राजा को बन्द कर दिया। खाने-पीने को सुन्दर-सुन्दर पदार्थ दियें। राजा भूखे-प्यासे तो थे ही भोजन पान तो किया, किन्तु कल मेरा ये बलिदान कर देंगे इस चिंता से उन्हें निद्रा नहीं आयी। रात्रि भर चिन्ता और दुःख करते रहे। प्रातःकाल हुआ। बलि पशु का पूजन करने को पहिले उसे स्नान कराया गया। स्नान कराते हुए लोगों ने देखा, इनकी तो एक उँगली कटी है। जो अंग-भंग विकलांग होता है, जिसका कोई अंग क्षत विक्षित होता है, ऐसे अंगहीन की बलि नहीं दी जाती। उँगली कटी होने के कारण उन लोगों ने राजा को छोड़ दिया। राजा छूटकर अपने राज्य में आया। तब उसे अपने प्रधान मन्त्री की बात याद आयी, आज मैं जो बलिदान से बच गया, वह उँगली कट जाने से ही तो बच गया। सचमुच उँगली का कट जाना, परम मंगलमय ही हुआ। इस विचार के आते ही उन्होंने प्रधान मन्त्री को बुलाने के लिये तुरन्त आदमी भेजा। राजा का बुलावा पाते ही मन्त्री जी ने आकर राजा को अभिवादन किया।

राजा ने मंत्री जी से कहा—"मन्त्री जी! आपने मेरी उँगली कटने पर जो कहा था—"बड़ा मंगल हुआ।" वास्तव में यह बात परम सत्य थी, आज मेरी उँगली कटी न होती तो कापालिक तो मेरा बलिदान ही कर देते। मैं कटी उँगली के कारण ही मृत्यु के मुख में गया हुआ लौट आया। मैने आपके साथ बहुत अन्याय किया। बहुत बड़ा अपराध किया, आपको अत्यन्त कष्ट दिया। मेरे अपराध को क्षमा दें और पुनः अपना मन्त्री पद सम्हालें।"

मन्त्री ने कहा—"महाराज! आपकी बुद्धि सद् असद् का विवेक करने वाली हो गयी, यह भी 'बड़ा मंगल हुआ' मंगलमय भगवान् के यहाँ कभी कोई कार्य अमंगलमय नहीं होता। आपकी उँगली कटी यह भी 'बड़ा मंगल हुआ' आप बच गये यह भी मंगल हुआ। आपकी बुद्धि विशुद्ध बन गयी यह भी मंगल हुआ। आपने मुझे देश निकाला दे दिया, यह भी मंगल ही हुआ। आपके शत्रु राजा ने मुझे प्रधानमंत्री बना दिया, यह भी मंगल ही हुआ। वहाँ रहकर भी मै निरंतर आपकी और आपकी प्रजा की सेवा ही करता रहा, यह भी मंगल ही हुआ। इतने कालकी शत्रुता समाप्त हो गयी, यह भी मंगल ही हुआ। वे राजा आप पर चढ़ाई करने वाले थे, मेरे प्रधान मंत्री होने से युद्ध रुक गया, यह भी मंगल ही हुआ। जिस सुवर्ण की खान पर विवाद था, वह आपको मिल गयी, यह भी मंगल ही हुआ। शत्रु राजा आपका मित्र बन गया, यह यह भी मंगल ही हुआ। मंगलमय प्रभु के सभी विधान मंगलमय ही होते हैं। राजन्! इस प्रकार आप भगवान् पर विश्वास करके समबुद्धि वाले बन जाइये। समबुद्धि वाले पुरुष वाह्य घटनाओं की ओर ध्यान नहीं देते। इनकी दृष्टि तो सदा आत्म तत्व में ही लगी रहती है। आत्मा मंगलमय, आनन्दमय, सच्चिदानन्द नित्य-कूटस्थ सत्यरूप, सुन्दररूप और मंगलमय है। इसी बात को भगवान् अर्जुन को समझाते हुए कह रहे हैं—

भगवान् ने कहा—"हे अर्जुन! जिस पुरुष की बुद्धि साम्यभाव में स्थिर हो जाती है, वह पुरुष कर्मों के फल की ओर दृष्टि रख कर कार्य नहीं करता। कर्म जनित फलों का परित्याग करके अपनी बुद्धि को आत्माकार तदाकार कर लेते हैं। वे समबुद्धि वाले बन जाते हैं। वे जन्म मरण के चक्कर में नहीं फँसते, क्योंकि जन्म तो कर्मों की वासना के अनुसार ही होता है। जब वे

वासना रहित होकर निष्काम भाव से फलाशा छोड़कर कार्य करते हैं, तो आगे जन्म का बीज कैसे जमेगा, कैसे अंकुरित, पुष्पित होकर फल वाला होगा। ऐसे पुरुष जन्म मरण बन्धन से छूटकर-सर्वथा मुक्त होकर अनामय पद को प्राप्त होते हैं, अर्थात् अविद्या तथा उसके कर्म रूप-आमय-रोग- से रहित पदवी को प्राप्त हो जाते हैं।

अब तुम पूछ सकते हो, कि फल की आशा छोड़कर निष्काम भाव से, समत्व बुद्धि का आश्रय लेते हुए हम कर्म करते जायँ तो कब हमारा अन्तःकरण विशुद्ध बन जायगा, कब हमारे चित्त की शुद्धि हो जायगी। तो इस विषय में भी मेरा निश्चित मत सुन लो।

भगवान् कह रहे हैं—जिस समय तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी कीच के दल-दल को पार कर जायगी। अविवेक रूपी मल को धोकर फेंक देगी, उसी समय वैराग्य को प्राप्त कर लोगे। अब तक तो तुम्हारी बुद्धि उन संस्कारों में फँसी हुई है, जो तुमने इस लोक और परलोक के सम्बन्ध में बहुत सी बातें सुन रखी हैं, अथवा आगे ऐसी ही वेदवादरता वाणी सुनोगे। जब तक कर्मोपार्जित लोकों की परीक्षा न की जाय तब तक निर्वेद अर्थात् वैराग्य नहीं होता। ब्रह्मज्ञानी को सकाम कर्मों से प्राप्त लोकों के क्षयिष्णु होने का जहाँ यथार्थ ज्ञान हो गया, वहाँ उन कर्म फलों से प्राप्त लोकों से—भोग और ऐश्वर्य से वैराग्य हो जाता है। अतः बुद्धि को मोह कलिल से पार करके समभाव में स्थिर करो।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने अर्जुन को बारबार समबुद्धि में स्थिर होने को कहा, तो अर्जुन के मन में उठा कि यह विषम बुद्धि हो क्यों गयी। कर्म और उनके फल की,

अभिलाषा में विक्षिप्त बुद्धि किस कारण हुई और यह बुद्धि एकाग्र होकर कब समाधिस्थ हो सकेगी कब यथार्थ में भक्ति-योग-निष्काम कर्मयोग में लग सकेगी।' इसी शंका का समाधान भगवान् आगे करेंगे। तब अर्जुन उस व्यक्ति का लक्षण पूछेंगे जिसकी बुद्धि समभाव में स्थिर हो गयी हो, इसका उत्तर भगवान् विस्तार के साथ देंगे—

छप्पय

बुद्धि फँसी जब तलक मोह दलदल के माहीं।
तब तक होहि न ज्ञान भोग इच्छा नहिं जाहीं।
पार करै जब कीच निकरि बाहर जब जावै।
तब ह्वै जाइ प्रकाश बहुत सुख हिय में पावै॥
सुने सुनाये फेरि बहु, उभय लोक के भोग सब।
बनि विरक्त तिनितैं तुरत, पावै पादवी मोक्ष तब॥

योग प्राप्त पुरुष के सम्बन्ध में प्रश्न

[२७]

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥❀

(श्री भग०-गी० २ अ० ५३, ५४ श्लोक)

छप्पय

वेद प्रशंसा करें काम्य करमनि की पुनि-पुनि ।
ऐसो यदि तुम करौ पाउ फल हिय हुलसे सुनि ॥
भाँति-भाँति फल जब-जब तुमरे स्रवननि आवैं ।
बिचलित मन ह्वै जाय भोगहित तुम्हें झुकावैं ॥
वही अचल धी आतम में, जब इस्थिर ह्वै जायगी ।
योग प्राप्त अब ह्वै गयो, स्थितधी पदवी पायगी ॥

यह बुद्धि ही अपने पति रूप पुरंजनः पुरुष जीव को नाच नचा रही है । इस बुद्धि में पूर्वजों के पूर्वजन्म के जैसे संस्कार पड़

❀ भाँति-भाँति के सुने हुए सिद्धान्तों से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब समाधि में अचला-निश्चला होकर ठहर जायगी तब तू समत्व रूपी

जाते हैं, वैसे ही संस्कार दृढ़ होकर आगे बढ़ते जाते हैं। अत्यन्त ही सूक्ष्म से सूक्ष्म हुई बुद्धि हमें संसार के उस पार पहुँचा सकती है, आत्म साक्षात्कार करा सकती है। यही बुद्धि जब स्थूल हो जाय सत असत का विवेक छोड़कर विषयों में ही फंस जाय तो यही संसार बंधन को सुदृढ़ करने में कारण हो सकती है। सब बुद्धि का ही विलास है बुद्धि का ही खेलमाल है, इसीलिये भगवान् वारवार नर से बुद्धि की शरण में जाने को कहते हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! हमारी बुद्धि जन्म जन्मान्तरों के संस्कार से काम्य कर्मों में फंसी हुई है। उसमें निष्काम की बात बैठती नहीं। जो सांचा गधा बनाने का बना हुआ है, उसमें हाथी की मूर्ति कैसे आवेगी जब तक कि उस सांचे को बढ़ाकर उसमें परिवर्तन न किया जाय। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं—अर्जुन इस समय तो तुम्हारी बुद्धिकर्मकांड की कर्म प्रशंसक श्रुतियों को सुनते-सुनते विचलित सी बन गयी है। यह बात तुम्हारी बुद्धि में बैठती ही नहीं कि बिना किसी कामना के निष्काम कर्म कैसे हो सकता है इसलिये कि विषम बुद्धि होने से वह चलायमान हो रही है। जिस समय तुम्हारी बुद्धि अविवेक रूपी मल को त्यागकर समभाव में स्थिर हो जायगी। समत्वरूपी योग में दृढ़धारणा वाली बन जायगी। अनिश्चला से निश्चला हो जायगी विभिन्न श्रुतियों के वचनों को सुनकर विक्षिप्त बनी बुद्धि बिमला अमला निश्चला समाधि में

योग को प्राप्त हो जावेगा।

अर्जुन ने पूछा—हे केशव! समाधि में स्थित पुरुष की क्या परिभाषा है? और वह स्थितप्रज्ञ बोलता कैसे है? रहता कैसे है? तथा चलता कैसे है?

स्थिर हो जायगी, परमात्म रूप में तल्लीन बन जायगी, समझ लो उसी समय तुम्हें समत्व-योग की, निष्काम कर्म योग की, भक्ति याग को प्राप्त हो जायगी। तुम समाधिस्थ हो जाओगे, स्थित प्रज्ञ बन जाओगे, तभी तुम स्थितधी कहलाने योग्य बन जाओगे।"

इस पर अर्जुन ने शंका की—भगवन्! आपने जो कहा—कि तुम समाधिस्थ होकर स्थितप्रज्ञ बन जाओगे, सो कृपा करके हमें यह बात बताइये स्थितप्रज्ञ कहते किसे हैं, उसका विशेषण आपने समाधिस्थ दिया, जो समाधि में स्थित है, उसकी पहिचान बताइये। उसका लक्षण कहिये साधारण मनुष्यों की अपेक्षा स्थितप्रज्ञ पुरुष की चाल ढाल, बोल चाल, रहनी महनी, कथनी करनी, सब पृथक् ही होनी चाहिये। इसलिये मेरे चार प्रश्न हैं। (१) पहिला प्रश्न तो यह कि वह समत्व बुद्धि वाला समाधिस्थ पुरुष किन लक्षणों से जाना सकता है? (२) दूसरा मेरा प्रश्न है, वह स्थितप्रज्ञ पुरुष बोलता कैसे है, क्योंकि जब तक मनुष्य बोलता नही तब तक उसके कुल का शील का सदाचार का पता नहीं चलता। सुन्दर-वस्त्राभूषण पहिने, शरीर से सुन्दर, मूर्ख भी भली भाँति सज वज कर ठाठ से पंडितों के मध्य में तब तक शोभा पाता रहता है, जब तक वह कुछ बोलता नहीं। जहाँ वाणी बोलने लगा, वहीं उसके कुल शील तथा सदाचार का पता चल जायगा। पेड की एक डाल पर कौआ और कोयल दोनों बैठे हों, तो जब तक वे बोलेंगे नहीं तब तक कोई जान नहीं सकता, कौन कोयल है कौन कौआ। किन्तु जहाँ उन्होंने मुख से वाणी बोली, सभी लोग जान जायँगे, यह कोयल है यह कौआ है। इसी प्रकार स्थितिप्रज्ञ पुरुष की बोली बात करने की शैली कैसी होती है?

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! वाणी से कुलशील का परिचय कैसे हो जाता है ?"

सूतजी बोले—"महाराज! वाणी तो मनुष्य के अन्तःकरण की प्रतिच्छाया है। बहुत से लोग वाणी सुनकर ही उसके सम्बन्ध में सब बता देते हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त से यह विषय स्पष्ट हो जायगा।"

एक सडक के किनारे एक अंधा व्यक्ति रहता था। वह पथिकों को पानी पिलाता था। एक बार कुछ राज कर्मचारी सैनिक लोग उधर से निकलते हुए मार्ग भूल गये। उन सैनिकों में से एक ने पूछा—"ओ अंधे! अमुक स्थान के लिये मार्ग किधर से है ?"

अंधे ने कहा—"सिपाही जी! इधर से ही आप चले जायँ।"

यह सुनकर वे लोग चले गये। इतने में ही उनका सेनाध्यक्ष आया। उसने पूछा—"अन्धे जी! इधर से कुछ सैनिक गये हैं क्या ?"

अंधे ने कहा—"हाँ, सेनापति जी! थोड़ी देर पहिले ही गये हैं।" वह यह सुनकर आगे चला गया। इतने में ही पीछे से प्रधान मंत्री आया, उसने पूछा—"क्यों जी सूरदास जी! इधर से कुछ सैनिक गये हैं ?"

उसने कहा—"हाँ, मंत्री जी! पहिले सिपाही गये हैं, उनके पीछे सेनाध्यक्ष दोनों इधर से गये हैं।" उनके चले जाने के अनंतर राजा आये, उन्होंने पूछा—"क्यों जी सूरदास जी महाराज! इधर से कुछ सैनिक तो नहीं गये हैं ?"

अंधे ने कहा—"हाँ, अन्नदाता! पहिले बहुत से सैनिक गये, फिर सेनाध्यक्ष गये, फिर मंत्री जी गये।"

राजा ने पूछा—"सूरदास जी महाराज! यह तो बताइये, आप देखते तो हैं नहीं आपने यह कैसे पहिचान लिया, कि यह सैनिक है, यह सेनाध्यक्ष है, यह मंत्री है, यह राजा है ?"

अंधे ने कहा—"प्रभो ! देखने से ही परिक्षा थोड़े होती है। मनुष्य की वाणी से ही उनके कुल, शील, सदाचार पद, पदवी, गंभीरता तथा हलकेपन का पता चल जाता है। सैनिक उजड्ड अभिमानी होते है, उन्होंने पूछा—ओ अंधे ! अमुक स्थान को मार्ग कौन सा है ? मै समझ गया ये कोई साधारण सैनिक है। सेनाध्यक्ष ने अंधे जी कहा—तो मै समझ गया यह है तो सैनिक ही, किन्तु उन लोगों से अधिक सुशिक्षित सभ्य सेनापति है।"

फिर एक ने आकर पूछा—"सूरदास जी ! इधर से सैनिक गये है।" मै समझ गया, इतने सम्मान से अभिमान शून्य वाणी में बोलने वाले कोई अ-सैनिक पदाधिकारी मंत्री होंगे। जब आपने आकर अजी, "सूरदास जी महाराज" कहा—तो मैं समझ गया, अवश्य ही आप वंश परम्परा से शासन करने वाले परम कुलीन, अभिमान शून्य, प्रजा वत्सल राजा हैं। प्रभो ! मनुष्य की वाणी ही उसकी कुलीनता को बता देती है।

इसीलिये अर्जुन का दूसरा प्रश्न था केशव ! (२) स्थितप्रज्ञ पुरुष क्या बोलता है कैसे बोलता है। (३) तीसरा प्रश्न उन्होंने किया, वह स्थित धी कैसे बैठता उठता है। बैठने-उठने से भी मनुष्य के अंतःकरण के भाव स्पष्ट प्रकट हो जाते हैं। अभिमानी बैठेगा तो चारो ओर देख भालकर बड़े अभिमान के साथ बैठेगा। निरभिमानी जहाँ चाहे परमविनीत भाव से बैठ जायगा। (४) चौथा मेरा प्रश्न है, कि स्थितप्रज्ञ चलता कैसे है। चाल ढाल से भी मनुष्य के व्यक्तित्व का पता चलता है। अभिमानी चलेगा, तो बड़ी अकड़ के साथ अंगों को हिलाता डुलाता चलेगा। विषयी चोर चारों ओर देखता भालता रहस्यमयी दृष्टि से अवलोकन करता हुआ चलेगा। जो शान्त निरभिमान जितेन्द्रिय पुरुष हैं, वे गंभीरता के साथ नीची दृष्टि किये शान्त

भाव से चलेंगे। इन बातों को जान लेने पर हम समझ सकेंगे, कि कौन स्थितप्रज्ञ है कौन नहीं है।

श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करते हैं अन्य साधारण पुरुष उन्हीं-उन्ही बातों का अनुकरण किया करते हैं। जब हमें सिद्धों के समाधिज्ञान सम्पन्न पुरुषों के लक्षण ज्ञात हो जायँगे। उनके लक्षण, उनकी बोली चाली, उठन-बैठन, तथा चलन-चितवन का पता चल जायगा, तो हम लोग भी उन्हीं का अनुकरण किया करेंगे।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने इस प्रकार समत्व बुद्धि वाले उपासक, कर्मयोगी, भगवत् भक्त के लक्षण पूछे, तब भगवान् ने बड़े विस्तार के साथ उनके लक्षण बताये। लक्षण बताने में बाह्य चिन्हों का उल्लेख नहीं किया कि वह ऐसे जटाजूट रखता है, या मूड़ मुडाता है। वह ऐसे तिलक छापे लगाता है या ऐसे वस्त्र पहिनता है। भीतर के सद्गुणों के ही कारण आन्तरिक स्थिति समझी जाती है। बाहरी चिन्ह तो एक लोक में दिखाने के लिये होते हैं। बाह्य चिन्ह धर्म में कारण नहीं। "न लिङ्ग धर्म कारणम्।" सर्वप्रथम भगवान् पहिले ही प्रश्न का जैसे उत्तर देंगे, उसका वर्णन आगे किया जायगा।

छप्पय

अरजुन पूछन लग्यो—कौन थिरधी है केशव।
काकूँ इस्थितप्रज्ञ कहें समुझाओ माधव॥
लच्छन तिनिके कहो जिन्हें लखिकें हम जानें।
ये समाधि सम्पन्न कौन चिन्हनितें मानें।
थिरधी कस भाषन करें, कैसे बैठत उठत है।
समुझें हम कस दरश करि, कैसे मग में चलत है॥

स्थितप्रज्ञ लक्षण (१)

[२८]

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥*

(श्रीभग० गी० २ अ० ५५, ५६ श्लो०)

छप्पय

सुनि बोले भगवान्—सखे! अरजुन बड़भागी।
युद्ध क्षेत्र में बुद्धि तिहारी प्रिय! इत लागी॥
जो हैं इस्थितप्रज्ञ नित्य सन्तुष्ट कहावें।
नहीं भोग ऐश्वर्य कामना तिन ढिंग आवें॥
तजैं कामना सकल जे, फल करमनि नहिँ चाहते।
आतम-आतम में तुष्ट है, इस्थितप्रज्ञ कहावते॥

---

* श्री भगवान् ने कहा—"हे पार्थ! जिस समय पुरुष मनोगत सम्पूर्ण कामनाओं को भली भांति त्याग देता है और अपने आप से ही अपने आप में सन्तुष्ट हो जाता है, तभी उसे स्थित प्रज्ञ कहते हैं ॥५५॥
जिसका मन दुःखों के प्राप्त होने पर उद्विग्न नहीं होता और सुखों के प्राप्त होने पर जिसे लालच नहीं होता, जो राग, भय और क्रोध से रहित है, ऐसे मननशील व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥५६॥

मन में भाँति-भाँति की असंख्यों कामनायें जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार से भर जाती हैं, वे कामनायें इतनी सूक्ष्म होती हैं, कि जैसे पुष्प में गंध दिखायी नहीं देती वैसे ही ये कामनायें दिखायी नहीं देती। जैसे आकाश में अनंत शब्द भरे हुए है, वे सुनायी नहीं देते, किन्तु यन्त्र विशेष से उन ध्वनियों का संसर्ग होते ही वे स्पष्ट सुनायी देने लगते हैं। इसी प्रकार मन में कामनाओं का एक बड़ा भारी कोष भरा है। एक आदमी के मन की कामनाओं को आप देखें तो उनकी पूर्ति में कितना समय लगेगा। संसार में जितने जव, गेहूं, चावल, आदि अन्न हैं, जितना धन है, जितने दूध देने वाले खेती करने वाले, वाहनों में उपयुक्त होने वाले पशु हैं, जितनी भी संसार की स्त्रियाँ है ये सब भोग पदार्थ एक ही व्यक्ति को दे दिये जायँ, तो भी उसकी मनोकामना पूर्णरीत्या पूरी न होगी। मनोकामनाओं की कोई संख्या नहीं, गणना नहीं वे अगणित तथा असंख्या हैं। आप चाहें कि भोग द्वारा हम समस्त कामनाओं को शान्त कर देंगे, तो यह असंभव है। आप चाहो कि जलती अग्नि जब तक तृप्त न हो जायगी, तब तक हम उसमें ईंधन डालते ही रहेंगे, तो वह अग्नि कभी भी तृप्त नहीं हो सकती। मन में भरी कामनायें भोग से नहीं, विचार से विवेक से, वैराग्य से तथा त्याग से ही शान्त हो सकती हैं। ये कामनायें आत्मा में नहीं। आत्मा का कामनामय स्वभाव होता जैसे जल का शीतत्व, अग्नि का उष्णत्व तब तो ये कामनायें छूट ही नहीं सकती थी। यह तो मन के विकार हैं, यदि सूत पहिले से ही पक्के रंग में रंगा हो, तो वस्त्र का वह रंग छूट नहीं सकता। जैसे कालीऊन से बना हुआ कंबल। यदि वस्त्र बनने के पश्चात् कच्चे रंग से कोई कपड़ा रंग दिया हो, तो वह युक्ति से छूट

सकता है। मन पर वासनाओं का कामनाओं का वास्तव में यह कच्चा रंग है। मन के ऊपर जो वृत्तियों का विस्तार होता है वह प्रमाण के द्वारा, विपर्यय के द्वारा, विकल्प के द्वारा और निद्रा तथा स्मृति के द्वारा विस्तार होता है। इससे काम संकल्प आदि वृत्तियाँ विस्तृत होती है। मन को निर्विकार, निर्विकल्प, निर्लेप बनाकर बाहरी पदार्थों से नहीं अपने आप में अपने से ही जब संतोष हो जाय, तभी समझो हमारी साधना सिद्ध हो गयी।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण पूछे तब भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा—हे पार्थ! मन ही मनुष्य के बंध और मोक्ष का कारण है। हार जीत कोई स्थूल वस्तु नहीं। मन ने समझ लिया हम हार गये, तो हार हो गयी। मन ने समझ लिया हम जीत गये, तो जीत हो गयी। मन की वृत्तियाँ एक नहीं शतशः सहस्रशः है, असंख्यों वृत्तियाँ मन को चंचल बनाये रहती है। जिस समय विद्वान् साधक पुरुष मनोगत समस्त वृत्तियों का परित्याग करके संतुष्ट हो जाय। जिसको जिस वस्तु की कामना होती है, उसको वह वस्तु प्राप्त हो जाती है, तो वह उस वस्तु को पाकर सन्तुष्ट हो जाता है। जैसे कोई निर्धन है उसे धन की कामना है, भाग्यवश उसे धन मिल गया, तो वह धन को पाकर परम सन्तुष्ट हो जायगा। कोई कामी है, उसे किसी मनोनुकूल कामिनी की कामना है, दैव योग से उसे उसी कामिनी का उपलब्धि हो जाय, तो वह उसे पाकर सन्तुष्ट हो जायगा। किन्तु ये सन्तोष स्थायी नहीं पूर्ण नहीं। धनेच्छु को धन मिलने पर क्षण भर को तो संतोष हो जायगा, किन्तु वह संतोष असंतोष रूप ही होगा। लाभ से लोभ बढ़ता है, अधिक धन प्राप्ति की उसकी कामना होगी,

वह कामना दिन दूनी रात्रि चौगुनी बढ़ती ही जायगी। कहाँ तक बढ़ेगी कोई अन्त नहीं। वाह्य पदार्थों की प्राप्ति से जो संतोष होता है उसमें पूर्णता नहीं नित्य सुख नहीं। अतः पहिले विद्वान् मन की समस्त वृत्तियों का परित्याग कर देता है। फिर परम आनंद की खान जो अपनी आत्मा है उस आत्मा में-विना बाहरी लौकिक उपकरणों के-अपनी स्वयं प्रकाश आत्मा द्वारा ही परम सन्तुष्ट हो जाता है। आत्माराम आप्त काम बन जाता है। रति करने को उसे कामिनी की आवश्यकता नहीं रहती। स्वयं आत्मरति बन जाता है आत्मा में ही क्रीड़ा करता रहता है, वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है। समस्त वाह्य उपकरणों से अनपेक्षित वह विद्वान् अपनी प्रज्ञा में ही समभाव से स्थित हो जाता है।

भगवान् कह रहे हैं—अर्जुन ! जिस समय साधक के अन्तःकरण में रहने वाली समस्त कामनायें विलीन हो जाती हैं, लुप्त हो जाती हैं, उसके अन्तःकरण से निकल जाती है, उस समय मर्त्य न होकर अमर हो जाता है मरणधर्मा न रह कर वह अजर अमर निरुपाधिक बन जाता है। फिर संसारी कितने भी दुःख क्यों न आ जायँ, वह दुःखों से उद्विग्न नहीं होता। संसारी लोगों का चित्त तो तनिक से दुःख से उद्विग्न हो जाता है, किन्तु समबुद्धि वाला साधक-ज्ञानी उपासक कभी-कैसा भी संकट आने पर-उद्विग्न नहीं होता, और संसारी सुख प्राप्त होने पर उनमें स्पृहा नहीं करता, कि ये सुख मुझे सदा ही प्राप्त होते रहें अथवा इनसे भी अधिक संसारी सुख मुझे मिल जावें। अथवा बिना पुण्य कर्म किये ही मुझे सुख मिले। संसारी लोग पाप तो करते हैं, किन्तु पापों का फल जो दुःख है उसे भोगना नहीं चाहते। वे पुण्य तो करते नहीं किन्तु पुण्यों का फल जो

संसारी सुखोपभोग हैं उन्हें चाहते हैं। इसी का नाम स्पृहा है। ज्ञानी प्रारब्धवश दुःख मिल जाय, तो उसमें उद्विग्न दुखी नहीं होता और सुख मिल जाय तो फूलकर कुप्पा नहीं हो जाता कि मैं कैसा भाग्य शाली हूँ, मुझे जैसे सुख प्राप्त हो रहे हैं वैसे दूसरों को नहीं हो सकते। सुख दुख में ज्ञानी की बुद्धि सम रहती है। वह समझता है शोक, मोह ज्वरादि आध्यात्मिक दुःख, व्याघ्र सर्पादि द्वारा प्राप्त अधिभौतिक दुख और वात वर्षादि से प्राप्त आधिदैविक दुःख ये सब प्रारब्धानुसार आते जाते हैं इसी प्रकार प्रारब्ध जनित पुण्य कर्मों के परिणाम स्वरूप हमें सांसारिक सुख मिल जाते हैं। वह दोनों में ही समभाव रखता है, दोनों को ही प्रारब्ध भोग मानकर निस्पृह निर्मम बना रहता है। जब उसकी बुद्धि सुख दुख में सम हो जायगी, तो फिर उसे राग, भय और क्रोध स्पर्श भी न कर सकेंगे।

राग उसे कहते हैं—जो वस्तु अपने को अच्छी लगे उसके अच्छेपन में चित्त रँग जाय तदाकार हो जाय। जैसे हमें मिष्ठान्न अत्यन्त प्रिय है। अब मिष्ठान्न की प्राप्ति में, उसके उपभोग में ही चित्त फँसा रहे तो समझो हमारा मिष्ठान्न में राग हो गया। मिष्ठान्न प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न पड़ जाय और अपने को उस विघ्न के निवारण में असमर्थ अनुभव करके मन में यह सोचे अब क्या होगा, इस विघ्न से कैसे बचा जायगा इसी का नाम भय है। भय के कारण मन में दीनता आ जाती है अपने को असमर्थ अनुभव करने लगते हैं। इसी प्रकार हमारा मिष्ठान्न में राग है। हमारे मिष्ठान्न पदार्थ को छीनने वाले, नष्ट करने वाले उसमें विघ्न करने वाले के प्रति विपरीत भावना हो जाती है और अपने में उसके निवारण

की सामर्थ्य समझ कर जो हृदय जलने लगता है, वाणी से अंट-संट बातें बकने लगते हैं इसका नाम क्रोध है। भय और क्रोध दोनों राग के पुत्र हैं। जिसे राग होगा उसी को भय लगेगा उसी को क्रोध आवेगा। बाप बेटे तीनों साथ ही साथ रहते हैं। ज्ञानी तीनों से अलग रहता है। न तो उसे अनुकूल विषयों में राग होता है, न विषयों के तथा शरीर के नाश का भय होता है और न विषयों के अपहरण करने वाले के प्रति क्रोध ही होता है। उस मननशील व्यक्ति को स्थित धी (स्थिर बुद्धि वाला विद्वान्) सिद्ध हुआ साधक अथवा उपासना की अंतिम सीढ़ी पर पहुँचा उपासक अथवा सम बुद्धि वाला निष्काम कर्मयोगी कहते हैं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् और भी खोलकर स्थितप्रज्ञ समबुद्धि वाले पुरुष के लक्षण बतावेंगे उन्हें मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

जो न दुःख में दुखी होहि रोवै पछितावै।
सुख में बनि के सुखी, कबहुँ फूले न समावै॥
दुख में नहिं उद्वेग न सुख की इच्छा मन में।
इन्द्रिय विषय सँयोग होहि सभुझै यह तन में॥
जिनके ढिँग नहिं भूलि कें, क्रोध राग भय आवते।
तेई मुनिवर जगत में, इस्थित प्रज्ञ कहावते॥

[आगे की कथा ७१ वें खंड में पढ़िये

श्री महावीर हनुमान्

(लेखक श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

श्री ब्रह्मचारी जी महाराज ने श्री वृन्दावन धाम में रहकर श्री हनुमान् जी का यह विस्तृत जीवन-चरित्र भागवती कथा की भाँति लिखा है, ऊपर एक श्लोक फिर एक छप्पय, तदनन्तर उस अध्याय के विषय की भूमिका फिर विषय विवेचन एक-आध दृष्टान्त कथा कहानी अंत में एक छप्पय लिखकर अध्याय समाप्ति। ऐसे इसमें २२ अध्याय हैं। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है, हनुमान् जी के भक्तों तथा कथावाचकों के बहुत ही काम की वस्तु बन गयी है। पृष्ठ संख्या २०६ मूल्य २ रु० ५० पैसे।

☼

श्री हनुमत्-शतक

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

हनुमान् चालीसा की भाँति नित्य पाठ करने के लिये यह "हनुमत् शतक" है, इसमें हनुमान् जी के जीवन सम्बन्धी १०८ छप्पय हैं, हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक कवि डाक्टर रामकुमार जी वर्मा ने तीन छप्पयों में इसकी भूमिका लिखी है। हनुमान् जी के भक्तों के लिये नित्य पाठ की यह बहुत ही उपयोगी पुस्तिका है! अब तक इसके दो संस्करण छप चुके हैं। पुस्तक के आदि में श्री हनुमान् का बहुत ही भव्य भावमय बहुरंगा चित्र है। मध्य में २१ छोटे चित्र (लाइन ब्लाक) हैं। मुखपृष्ठ पर हनुमान् जी का सुन्दर भावमय चित्र है। सुन्दर छपायी सफायी वाली इस पुस्तक की न्योछावर केवल ५० पैसा है।

भक्त-चरितावली

पूज्य श्री महाराज आज से ४०-५० वर्ष पूर्व झूसी (प्रतिष्ठानपुर) के हंसतीर्थ में सन्ध्यावट नामक एक सघन वटवृक्ष के नीचे छोटी सी कुटिया में रहकर अनुष्ठानादि करते रहते थे। जपानुष्ठान से जो समय मिलता उसी में वे भक्तों का चरित्र लिखते थे। आज से ४० वर्ष पहिले हिन्दी प्रेस के स्वामी स्व० पं० रामजी लाल शर्मा ने इसे छापा था। वे श्री महाराज के भक्त थे। तभी से कुछ फरमे शेष थे उन्हें ही इस रूप में निकाला है। यदि भगवत् भक्तों ने इसे पसन्द किया, तो शीघ्र ही इसका दूसरा संस्करण छापा जायगा। आशा है कृपालु पाठक पाठिकायें इस ग्रन्थ को प्रेमपूर्वक पढ़ेंगे। भक्त-चरितावली भाग (१), पृष्ठ ४४४, मूल्य ४ रु०। भाग (२) पृष्ठ ३०३, मूल्य २ रु० ५० पैसा।

विनीत

व्यवस्थापक

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

श्री गीताजी की आरती

आरती गीता की कीजे
अलौकिक अमृत सतत पीजे ।

उपनिषद गैयाँ सब प्यारी, ठड़े दुहिवें कूँ बनवारी ।
पृथासुत बछरा पुहनावे, थननि में दूध अधिक आवे ।
पान करि सुख अनुपम लीजे ॥ अलौकिक० ॥१॥

दुरित दुख सबई भजि जावें, नारि नर शांति परम पावें ।
कथामृत पीकें छकि जावें, सहज भवसागर तरि जावें ।
देर अब तनिक नहीं कीजे ॥ अलौकिक० ॥२॥

उभय दल लडिवें कूँ ठाढ़े, करनि में अस्त्र शस्त्र धारे ।
पार्थ ने धनुष बान डारे, विहँसि के बोले तब कारे ।
मोह तजि करतब करि लीजे ॥ अलौकिक० ॥३॥

कृपा हरि करुना करि कीन्हीं, अलौकिक जग कूँ निधि दीन्हीं ।
व्यास शुक ऋषि मुनिवर चीन्हीं, पुरुष बड़भागिनि लै लीन्हीं ।
सुधी जन बाँटि बाँटि पीजे ॥ अलौकिक० ॥४॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का

संक्षिप्त सूची-पत्र

संकीर्तन भवन झूसी, (प्रयाग)

मुद्रक—भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

॥ श्री हरिः ॥

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) से प्रकाशित

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित

पुस्तकों का

संक्षिप्त सूची-पत्र

१. भागवती कथा (१०८ खंडों में)—अब तक ७० खण्ड छप चुके हैं।

श्रीमद्भागवत को उपलक्ष्य बनाकर इसमें अष्टादश पुराण तथा सभी वेद शास्त्रों का सार सरल, सुगम, सरस भाषा में वर्णित हैं। पढ़ते-पढ़ते आपकी तृप्ति न होगी, एक अध्याय को समाप्त करके दूसरा अपने आप ही पढ़ने लगेंगे। सर्वथा औपन्यासिक शैली में लिखी है, भाषा इतनी सरल ओज पूर्ण है कि थोड़े पढ़े बालक मातायें तथा साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं। अध्याय के प्रारम्भ में एक श्रीमद्भागवत का श्लोक होता है फिर एक उसी भाव की छप्पय, फिर उसी अध्याय की सारगर्भित भूमिका तदन्तर प्रतिपादित विषय दृष्टान्त और सरल कथाओ तथा कथोपकथन के रूप में वर्णित है, अंत में एक छप्पय देकर अध्याय की समाप्ति की है। प्रत्येक खंड मे १५–२० अध्याय होते हैं लगभग २५० पृष्ठों का एक खंड होता है ७-८ सादे तथा एक बहुरङ्गा चित्र होता है। तेलगू भाषा में इसका अनुवाद हो गया है। बीसों खंड छप भी गये हैं प्रत्येक खंड का मूल्य १) रुपया ६५ पैसे। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बहुत सी जिला परिषदों के पुस्तकालयों के लिये सरकार द्वारा स्वीकृत है।

६० खंडों में तो कथा भाग समाप्त हो गया है। शेष खंडों मे से प्रत्येक में किसी एक विषय का विवेचन होता है। सभी खंड प्रायः स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक खड के ३-३ ४-४ संस्करण छप चुके हैं। सैकड़ों स्थानों में इसकी नित्य नियम से कथा होती है। बड़े-बड़े ग्राचार्यों, विद्वानों नेताओ तथा प्रतिष्ठित पुरुषों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हमारा बड़ा सूची-पत्र बिना मूल्य मँगाकर विद्वानों की सम्मतियाँ पढे। यह ग्रन्थ किसी का ग्रक्षरशः अनुवाद नही स्वतन्त्र विवेचन है।

२. भागवत चरित सप्ताह (पद्यों में)—यह भागवत का सप्ताह है। छप्पय छन्दों में लिखा है। बीच-बीच मे दोहा, चौपाई सोरठा, लावनी, भजन तथा अन्य राग-रागिनियाँ हैं। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी सप्ताहिक, मासिक तथा पाक्षिक परायण होते हैं। *अनेक स्थानों में १०८-१०८ के इसके अनुष्ठान हुए हैं। सैकड़ों* "भागवत चरित व्यास" बाजे तबले पर इसकी कथा करके धर्म प्रचार के साथ ही अपनी भजीविका चलाते हैं। सैकडों सादे चित्र ५-६ बहुरंगे चित्र हैं कपड़े की सुन्दर जिल्द है, लगभग ९५० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ६ रु० ५० पैसे पाँच सस्करणों में अब तक २३ हजार प्रतियाँ छप चुकी हैं। बिहार सरकार द्वारा पुस्तकालयो के लिये स्वीकृत है।

३. भागवत चरित (सटीक दो भागों में)—अनुवादक—पं० रामानुज पांडेय, बी० ए० विशारद "भागवत चरित व्यास" भागवत चरित की सरल हिन्दी मे सुन्दर टीका है प्रथम खड छप चुका है। १२२५ पृष्ठ हैं मूल्य ८ रुपया।

४. बद्रीनाथ दर्शन—श्रीबद्रीनाथ यात्रा पर यह बड़ा ही खोजपूर्ण ग्रन्थ है। बद्रीनाथ यात्रा की सभी आवश्यक बातों का तथा समस्त उत्तराखंड के तीर्थों का इसमे वर्णन है। लगभग सवाचार सौ पृष्ठों की सजिल्द सचित्र पुस्तक का मूल्य ५) रुपया। भारत सरकार द्वारा हिन्दी प्रान्तों के लिये स्वीकृत है।

१८. भागवत चरित की बानगी—भागवत चरित के पद्यों के कुछ अध्याय बानगी के रूप में पृथक छापे हैं। इससे भागवत चरित के पद्यों की सरसता जान सकेंगे। पृष्ठ १०० मूल्य ३१ पैसा।

१९. गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) दोनों स्तोत्र है। मूल्य स्तोत्र भी दिये हैं। नित्य पाठ करने योग्य हैं। मूल्य २० पैसा।

२०. श्रीकृष्ण चरित—भागवत चरित से यह पद्यों में श्रीकृष्ण चरित पृथक् छापा गया है। पृष्ठ सं० ३५० मूल्य २ रु० ५० पैसे।

२१. गोपालन शिक्षा—गौ कैसे पालनी चाहिये। गौओं की कितनी जाति हैं, गौओं को कैसा आहार देना चाहिये। बीमार होने पर कैसे चिकित्सा की जाय। कौन-कौन देशी दवाएँ दी जाय, इन सब बातों का इसमें विशद वर्णन है। पृष्ठ २०४ मूल्य २ रुपया ५० पैसा।

२२. मुक्तिनाथ दर्शन—नेपाल में सुप्रसिद्ध मुक्तिनाथ तीर्थ है। इस तीर्थ की यात्रा का बहुत ही हृदय स्पर्शी वर्णन है। नेपाल राज्य तथा नेपाल के समस्त तीर्थों का इसमें विषद वर्णन है, मूल्य २ रुपया ५० पैसा।

२३. आलवन्दार स्तोत्र—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के महामुनीन्द्र श्रीमत् यामुनाचार्य कृत यह स्तोत्र सर्वमान्य तथा बहुत प्रसिद्ध है। प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय के मन्दिरों मे इसका पाठ होता है। मूल श्लोकों के सम्मुख छप्पय छन्द छापी गई हैं। सभी ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसका ५ हजार का संस्करण कलकत्ता के उद्योगपति श्री बांगड़ जी की ओर से छापा गया है। हम इसकी एक लाख प्रति छपाना चाहते हैं। जो सज्जन, १ सहस्र रुपये भेज देंगे, उन्हें हम ५ हजार प्रतियाँ छापकर वितरण के लिये भेज देंगे। वे स्वयं वितरण करावें या हम उन्हें वितरण कर देंगे।

२४. रास पंचाध्यायी—भागवत चरित से रास पंचाध्यायी पृथक् छापी गयी है। बिना मूल्य वितरत की जाती है।

२५. गोपी गीत—श्रीमद्भागवत के गोपी गीत का उसी छन्द में ब्रजभाषा अनुवाद है। वह भी बिना मूल्य वितरित है।

२६. श्रीप्रभु पदावली—श्री ब्रह्मचारीजी के स्फुट पदों का सुन्दर संग्रह है।

२७. परमसाहसी बालक ध्रुव–१०० पृष्ठकी पुस्तक मूल्य ६० पैसे।

२८. सार्थ छप्पय गीता—गीता के श्लोक एक ओर मूल और अर्थ सहित छापे हैं। उनके सामने अर्थ की छप्पय हैं। सचित्र पुस्तक का मूल्य ३ रु० है।

२९. हनुमत् शतक—नित्य पाठ करने योग्य यह पुस्तक बहुत ही सुन्दर है। इसमें १०८ छप्पय हैं, सुन्दर हनुमान् जी का एक बहुरंगा तथा २१ सादे चित्र हैं। मूल्य ५० पैसा।

३०. महावीर हनुमान्—श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने श्रीहनुमान् जी का यह विस्तृत जीवन-चरित्र भगवती कथा की भाँति लिखा है, इसमें २१ अध्याय है। (पृष्ठ संख्या २०६ मूल्य २) ५० पैसा।

३१. भक्त-चरितावली (दो भागों में)—यदि आप चाहते हैं कि हम भी प्रभु के भक्तों की गाथा पढकर, भक्ति में आत्मविभोर होकर, प्रभु की दिव्य झाँकी की झलक का दर्शन करें तो आज ही भक्त-चरितावली के दोनों भाग मँगाकर पढ़ें। भक्त-चरितावली भाग (१) पृष्ठ ४४४ मूल्य ४) रु०। भाग (२) पृष्ट ३०३ मूल्य २ रु० ५० पैसा।

३२. छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय—श्री भर्तृहरि के नीति, श्रृङ्गार और वैराग्य तीनो शतकों का छप्पय छन्दों में भावानुवाद। पुस्तक बहुत ओजस्वी कविता में है। (प्रेस में)।

३३. श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में श्लोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी संक्षेप में दी गई है। शीघ्र ही छप रही है।

श्रीभागवत चरित की आरती

भागवतचरित अमृत पीजे।
आरती सब मिलिकें कीजे॥

दया के सागर हैं यदुचन्द, गहे अजने तिनिपद अरविन्द।
कमलमुख झरें सुधाके बिन्दु, तिनहिं पी पी के नित जीजे॥ आ०

नाम को रसना करिकें गान, करैं मन मोहन मूरति ध्यान।
नयन निरखें सब थल भगवान, कृष्णको कीर्तन नित कीजे॥ आ०

याद जिय चरितनिकी आवै, पुलक तनु सहरो ह्वै जावै।
प्रेम सब अंगनिमें छावै, भावमें भक्त रहें भीजे॥ आ०

हियेपे चढ़े भक्ति को रंग, मिलै भक्तनिको नित सतसंग।
काज सब करें कृष्णहित अंग, व्यरथ नर जीवन नहिं छीजे॥ आ०

प्रेम अरु लयते सब गाओ, पार भव सागर ह्वै जाओ।
पदम पद रज प्रभुकी पाओ, आरती भक्त वृन्द लीजे॥ आ०